श्री श्री १०८
मुक्तानन्द गिरि महाराज

(दीदीमाँ)



श्री अनिल चन्द्र गंगोपाध्याय

श्रीश्री १०८

मुक्तानन्द गिरि महाराज

(दीदीमाँ)

श्री अनिल चन्द्र गंगोपाध्याय

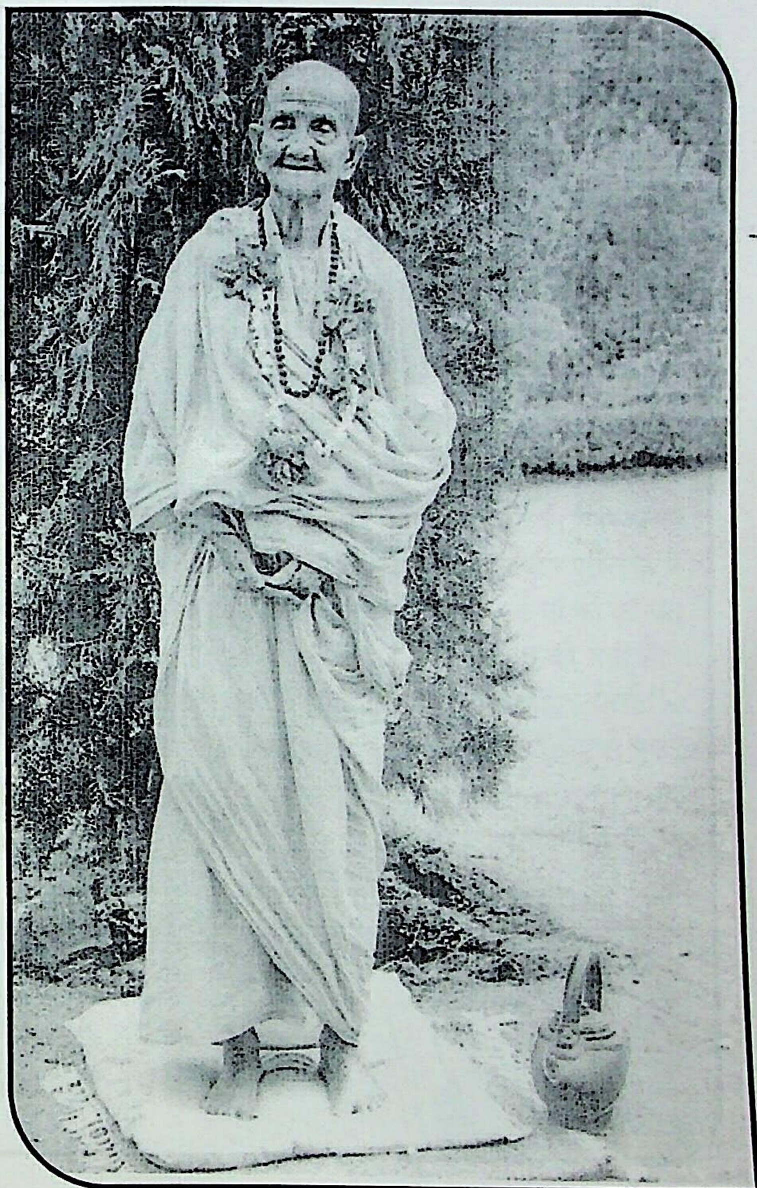
प्रकाशक
श्रीश्री आनन्दमयी संघ
भदैनी, वाराणसी

प्रथम प्रकाशन
सावन १३८२
बुद्धपूर्णिमा

द्वितीय प्रकाशन
सन् २०२४

मूल्य : ३६/-

मुद्रक: रत्ना ऑफसेट्स लिमिटेड
बी.२१/४२ ए., कमच्छा,
वाराणसी–२२१०१०
मो. ९८३९८५६८६८





भूमिका

श्री श्री १०८ मुक्तानन्द गिरि महाराज के (दीदीमाँ के) अनेकों शिष्य तथा भक्तवृन्द उनके जीवन चरित्र जानने के लिए आग्रहान्वित हैं। उनका सम्पूर्ण चरित्र लिखने के लिये जो प्रयोजनीय तथ्यावली अपेक्षित है, उसे संगृहीत नहीं किया जा सका। वर्तमान पुस्तक में दीदीमाँ के बाल्यजीवन, गृहस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम की कुछ घटनाओं के अवलम्बन से एक माला गूँथने का प्रयास किया गया है। दीदीमाँ के वचन, आसन, गमन तथा आचरण में स्थितप्रज्ञ के अनेक लक्षण प्रस्फुटित हुये थे। वास्तविक घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में उन लक्षणों को यथास्थान में उल्लेख किया गया है। गिरिजी के पूर्वाश्रम की कन्या– श्री श्री माँ आनन्दमयी माँ। वर्तमान पुस्तिका में प्रसंगवश दीदीमाँ को केन्द्रित कर माँ की लीलायें एवं माँ को केन्द्रित कर दीदीमाँ की लीलायें सहज सरल भाषा में वर्णित की गयी हैं।

गिरिजी स्वमहिमा में प्रतिष्ठित हैं। "साधवो दीनवत्सला:"– श्रीमद्भागवत की यह वाणी गिरिजी के व्यक्तित्व में मूर्त रुप से प्रकट हुयी थी। गिरिजी के सुगम्भीर गाम्भीर्यपूर्ण महान चरित्र की एक वाङ्मयी मूर्ति इस पुस्तिका में प्रकट हुयी है। श्रद्धापूर्वक इस पुस्तक का अध्ययन करने से पाठक वर्ग लाभान्वित होंगे इसमें कोई संशय नहीं है।

– स्वामी परमानन्द

६ श्रावण १३८२ (बंगाब्द), गुरुपूर्णिमा, हरिद्वार



सूचना

श्री श्री १०८ मुक्तानन्द गिरि जी पूर्वाश्रम में लौकिक दृष्टि से श्री श्री माँ आनन्दमयी, (निर्मला सुन्दरी देवी) की जन्मदात्री जननी हैं। इस सूत्र से मुक्तानन्द गिरिजी सम्पूर्ण मातृभक्त सन्तान समुदाय की दीदीमाँ, अर्थात् नानीमाँ हैं।

जिनको आश्रय करके श्री श्री माँ का आविर्भाव इस धरा धाम में हुआ। उन महामहनीया मातृस्वरुपा विधुमुखी मोक्षदा सुन्दरी देवी का जीवन वेद साधारण जीव के समझ से परे है। दीदीमाँ को पहचान जाना सामान्य बात नहीं थी। गुप्त योगी की श्रेणी में उनकी गणना की गयी है। वे गुप्त योगी ही थीं। श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ लक्षण दीदी माँ के चरित्र में उजागर नज़र आते थे। वह 'भाषा' थी उनके अन्तर के गहन में अन्तःशिला फल्गुधारा की भाँति गोपन सञ्चारिणी।

दीदीमाँ की सम्पूर्ण जीवन गाथा का धारावाहिक लिपिबद्ध करने के लिए जिन तथ्यों की आवश्यकता है, वर्तमान में उनका संग्रह सम्भव नहीं। दीदीमाँ प्रचार से दूर रहती थीं। अति सावधानी से वे निज को अन्तराल में रखती थीं। दीदीमाँ अन्तरंग जनों के सामने भी अनायास स्वयं को प्रस्तुत नहीं करती थीं। दीदीमाँ के जीवन चरित रचना उद्देश्य से उनसे किसी तरह की जिज्ञासा किए जाने पर भी उल्लेख योग्य उत्साह नहीं मिलता था। विशेषतः सन् दिनांक आदि के लिए उनकी उदासीनता स्वाभाविक थी।

अनन्तकाल के साथ नित्य योग सूत्र को जिन्होंने आजीवन अन्वेषण किया है, खण्डकाल के छोटे-छोटे पिञ्जर-सम्बन्ध में

सम्पूर्ण उदासीनता उनके लिए सामान्य थी।

वर्तमान पुस्तिका दीदीमाँ को पूर्णाङ्ग जीवन चरित नहीं है– अपितु उनकी जीवन नदिया के कुछ घाटों की याददास्त। अनेक क्षेत्र में उन पुण्य स्मृतियों के साथ जुड़ी हुई हैं मातृ लीला की अवर्णनीय लहर मालाएँ।

आलोचित विषयों का उपादान विभिन्न सूत्रों से संगृहीत किया गया है, यथा गुरुप्रिया देवी प्रणीत "श्री श्री माँ आनन्दमयी" शीर्षक ग्रन्थ, सुश्री चन्दन ब्रह्मचारिणी द्वारा अप्रकाशित पाण्डुलिपि। आनन्दवार्ता पत्रिका में प्रकाशित प्रबन्धादि एवं दीदीमाँ के अन्तरंग भक्त वृन्द के उद्‌गार।

दीदीमाँ का पित्रालय एवं पितृदेव (पिताजी)

जिस परिवार में दीदीमाँ का जन्म एवं जिस वातावरण में उनका शैशव तथा बाल्यावस्था व्यतीत हुआ था, वह अनन्य साधारण था। दीदीमाँ के पूज्यपाद पितृदेव, "रमाकान्त भट्टाचार्य" का जन्म हुआ था त्रिपुरा जिले में (वर्तमान बांग्लादेश के अन्तर्गत) सुलतानपुर गाँव के भरद्वाज गोत्र निष्ठावान् समृद्ध परिवार में। वंश परम्परा से उनकी गुरुकुल की धारा चली आ रही है। निवास पर लब्ध प्रतिष्ठ प्राचीन पाठशाला है। इस पाठशाला में अध्ययन अध्यापन ही होता है ऐसी बात नहीं है, अध्यापकों के साथ विद्यार्थियों का दिल से लगाव हो जाता था।

दीदीमाँ के पितृनिवास में ऐश्वर्य की प्रदर्शनी नहीं थी, अपितु सरलता तथा लक्ष्मीजी का निवास था। फलों के बगीचे, फूलों की फुलवारियाँ, घने घासों से ढका विस्तृत प्रांगण, सदर महल, भीतर महल वगैरह भोग के एक एकाधिक साधन थे। तथापि सत्त्वगुण

सम्पन्न सात्त्विक परिवेश था। वहाँ विराजमान थी निर्मल शान्ति तथा पवित्रता का वायु मण्डल। जनजनार्दन समागम से गृहपरिसर मुखरित रहता था। विशेषत: नवरात्र (दुर्गोत्सव) आदि विविध उत्सवों में दीदीमाँ का पित्रालय गाँव की जनता के लिए खुला दरबार था। सुलतानपुर के कुछ सम्पन्न लोगों के घरों में भी विशेष समारोह के साथ दुर्गोत्सव मनाया जाता था। उक्त प्रकार की चमक दमक दीदीमाँ के पित्रालय में यद्यपि नहीं थी। भट्टाचार्य परिवार की दुर्गापूजा की विशेषता थी– वातावरण में सात्त्विकता, अभ्यर्थना में सहृदयता तथा आचरण में अपनापन। दुर्गापूजा की आध्यात्मिकता ही मुख्य थी। उत्सव आनुषंगिक होता था। दैनन्दिन जीवन यात्रा में इस गृहस्थी में मुख्य माना जाता था, गार्हस्थ्य धर्म की ऋषिपन्था को। इस पुण्य आश्रम के प्राण केन्द्र थे गृहदेवता। सभी अनुष्ठान उत्सवादि के अन्तराल में यही ठाकुर ही जाग्रत देवता थे।

"श्री रमाकान्त भट्टाचार्य, अपनी, विद्या बुद्धि, सदाचार एवं सहृदयता के कारण गाँव में सर्वजन पूज्य थे। स्वभाव से धीर, स्थिर, गम्भीर व्यक्तित्व के धनी थे श्री रमाकान्त भट्टाचार्य। उनके लिए दु:खी, दीन, हीन, सभी वर्ण की गाँव की जनता सलाह आदि के लिए उनके ही शरण में आती थी। सम्पद् में विपदा में वे ही थे उनके बल, बुद्धि, भरोसा।

दीदीमाँ के पिताश्री मुख्यत: अध्ययन तथा अध्यापन कार्य में संलग्न रहते थे। विद्यार्थियों के प्रति उनका पुत्र समान स्नेह था। निज संतान पुत्रों को उन्होंने आर्य ऋषि के अनुसार तैयार किया था। दीदीमाँ के अग्रज बड़े भाई, विद्या, बुद्धि एवं व्यक्तित्व के प्रभाव से वंश के सनातन गौरव को निर्मल तथा अटूट रखने में समर्थ थे।

श्री रमाकान्त भट्टाचार्य की सहधर्मिणी भार्या थीं स्वर्गगता हर सुन्दरी देवी। उन पुण्यशीला रमणी की अष्टमगर्भ सन्तान दीदीमाँ।

दीदीमाँ का जन्म, नामकरण एवं जीवन के तीन अध्याय

सही तारीख संग्रह करना सम्भव नहीं हो सका। प्रस्तुत पुस्तिका में उल्लिखित सन् तथा दिनांक अनेक स्थानों पर आनुमानिक।

दीदीमाँ का जन्म सन् १८७७ के वैशाख मे हुआ था। इस पुण्यमाह में धरती पर आविर्भाव हुए थे बुद्धदेव, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य एवं श्री श्री आनन्दमयी माँ। दीदीमाँ के पूर्वाश्रम का नाम था विधुमुखी। दूसरा नाम मोक्षदासुन्दरी। दोनों नाम ही सार्थक। विधुमुखी के अति सुन्दर मुखमण्डल पर चमकती थी चाँद की सुषमा; उनकी शान्त, स्निग्ध दृष्टि में चाँदनी की शुभ्रता; आखिरी उम्र में भी उस सौन्दर्य का माधुर्य था निर्मल, वही शुभ्रता हुई थी शुभ्रतर। उत्तर कालीन जीवन में मोक्षदा सुन्दरी देवी का संन्यास आश्रम का नाम मुक्तानन्द गिरि हुआ था। मोक्ष एवं मुक्ति एक ही बात। गुरुरुप में दीदीमाँ ने सैकड़ों-सैकड़ों नर नारी के मुक्तिलाभ का उत्तरदायित्व ग्रहण किया था।

दीदीमाँ का जीवन तीन अध्याय में विभक्त– न्यूनाधिक बारह वर्ष पित्रालय (पिता के घर) कुमारी जीवन, न्यूनाधिक पचास वर्ष गृहस्थ आश्रम एवं बत्तीस वर्ष संन्यास आश्रम।

लौकिक दृष्टि में पूर्वाश्रम का दीदीमाँ का जीवन दुःख की मर्मान्तक कहानी है। वह दुःख असहनीय होता, यदि न रहता दीदीमाँ का असीम धैर्य एवं ईश्वर पर अटल विश्वास। जो दुर्बल चित्त एवं संशयात्मा, (सन्दिग्ध चित्तवाले) होते हैं, वे दुःख भार से टूट जाते हैं। जहाँ आधार बड़ा, दुःख वहाँ अलंकार। पूनम का चाँद बड़ा होता

है तभी तो उसमें कलंक शोभा पाता है। दीदीमाँ की जीवन पर्यालोचना करने से यह सिद्धान्त ही प्रतिष्ठित होता है कि, ईश्वर-सृष्टि में दुःख नहीं है, दुनिया के जितने दुःख जीवसृष्टि में।

सुखमय शैशव में बिना मेघ वज्रपात

दीदीमाँ का शैशव तथा बाल्यावस्था पित्रालय की शुद्ध हवा, पवित्र, सात्त्विक, वातावरण में व्यतीत हुई थी। उम्र के बढ़ने के साथ ही साथ उनके चरित्र में जिन असामान्य गुणावली का प्रकाश देखा गया था वाल्यावस्था में उनकी आहट स्पष्ट हो चुकी थी। सुनने में आता है, अपने उम्र के बालक बालिकाओं के साथ दीदीमाँ का कलह कभी नहीं हुआ। छोटे-बड़े सभी के साथ उनका मधुर व्यवहार था। छोटे बड़े सभी दीदीमाँ के प्यारे थे। सभी के साथ उनकी प्रेमपूर्ण बातचीत होती रहती थी। अवसर पाते ही एकाकी निर्जन में रहना उनको अति प्रिय था। विविक्तदेश सेवित्व तथा अरतिर्जन संसदि– श्रीमद्भगवद्गीता के, उक्त द्वय ज्ञान के लक्षण दीदीमाँ के स्वभाव-ज्ञात थे। इसके अतिरिक्त उक्त स्वल्पावस्था में देखा गया था व्रत आदि के पालन में उनकी दृढ़ निष्ठा तथा पूजन आदि में गहरी श्रद्धा। ईश्वर के लिए दीदीमाँ बाल्यावस्था में क्या सोचती थीं, इस प्रश्न के जवाब उन्होंने कहा था, "बाल्यकाल से ही उनका दृढ़ विश्वास था, भगवान् एक कोई हैं तथा यह बात भी वह सोचती थीं कि कहीं दूर जाने से शायद भगवान् का साक्षात्कार होगा।

दीदीमाँ के लिये विद्यालय में उच्चशिक्षा का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। परन्तु बाल्यावस्था से ही भक्ति प्रेम के साथ रामायण तथा महाभारत का एकान्त परिचय प्राप्त किया था। जीवन के उत्तर काल में उक्त दोनों महाकाव्य की कहानियाँ उनको भली भाँति याद

थीं। कवित्व शक्ति का विकास उच्च शिक्षा की अपेक्षा नहीं रखती दीदीमाँ उसकी साक्षात् दृष्टान्त हैं। दिल के भावावेग से आपने अति सहज भाषा में अगणित भक्तिमूलक भजन की रचना की थी। उन भजनों में स्वतःस्फूर्त काव्य रस एवं अनुभूति का परिचय प्राप्त होता है।

ऐसा लगता है, दीदीमाँ के जीवन की पहली सीढ़ी पर निष्कण्टक सुख था। माता-पिता की छोटी कन्या भरी-पूरी गृहस्थी, हम उम्रों के साथ खेलकूद का खुला दरवाजा। घर का मैदान, बगीचा, तालाब। उत्सव आदि त्यौहारों के अवसर पर घर में मानो खुशी का झरना बह जाता था। संक्षेप में कहा जा सकता है, बाल मन की खुशियों का अम्बार दीदीमाँ के लिए सर्वदा उपलब्ध था। दीदीमाँ के जीवन का यह अध्याय अवश्य ही अति सुखमय था परन्तु इसकी अवधि अति संक्षिप्त थी।

विधुमुखी अभी बालिका ही थी कि दुःख का कठोर वज्राघात उनके जीवन में उपस्थित होता है। माता-पिता को सदा के लिए खोने का अहसास। माता हरसुन्दरी देवी जब मृत्यु शय्या पर थीं, बालिका विधुमुखी उनसे पूछती हैं "माँ! आपके नहीं रहने पर मैं कहाँ रहूँगी?

मृत्युपथगामिनी माता ने ज्येष्ठा पुत्रवधू का हाथ पकड़ कर कहा था, "इसको तुम्हारे हाथों में सौंप रही हूँ, तुम इसको देखना।"

स्नेहमयी भाभी अनायास अधिकार कर लेती हैं, माता-पिता से सदा के लिए बिछुड़ जाने वाली छोटी ननद विधुमुखी की माँ की भूमिका छोटी ननदिया को वे आदर से सम्बोधन करती थीं। "छोटी ठाईन" (बंगला शब्द)। स्वर्गगामी माता-पिता का लाड़प्यार दीदीमाँ के लिए आजीवन, अतीत के सुख सपनों के प्रायः विस्मृत होने वाले

यादगार।

नव-वधू

दीदीमाँ के जीवन का दूसरा अध्याय प्रारम्भ होता है सन् १८८९ (बंगला १२९६) के प्रथम पर्व में शुभ-विवाह। पति श्री विपिन बिहारी भट्टाचार्य। त्रिपुरा जिले के (वर्तमान बंगला देश के अन्तर्गत) विद्याकूट गाँव के प्रसिद्ध कश्यप वंश में उनका जन्म। पुरुषानुक्रम से उनकी भी गुरुकुल धारा। पूर्वपुरुषों में से किसी-किसी ने सिद्धिलाभ किया था।

विवाह के उपरान्त दीदीमाँ के जीवन रंगमंच में पटपरिवर्तन होता है। नया माहौल, नये परिजन, नये तरह के कामकाज, नया भार। जीवन धारा का पूरा परिवर्तन। विवाहोपरान्त कन्याओं को ऐसा अनुभव होता ही है। सामान्यत: नव-वधू पति को पाकर सभी दु:ख दर्द भूल जाती हैं। वह भरपूर रहती है नवीन गृहस्थी के सुख नीड़ रचना के आनन्द में। दीदीमाँ के भाग्य में कुछ और ही होता है। जिनको लेकर नव वधू की सुख नीड़ की कल्पना है। वही पति देवता, मानो साक्षात् उड़ती चिड़िया हैं। विधाता ने उनको बनाया गृहस्थी के पिंजरे में बँधे रहने के लिये नहीं, औदार्यपूर्ण, खुले आसमान में स्वाधीन आनन्द से विचरण के लिये। और उनकी नवविवाहिता गृहस्थी में अकेली, "सुख नीड़" में बिना साथी के।

दादामहाशय

विपिन बिहारी भट्टाचार्य (दादामहाशय) थे, अपने आप में मस्त रहने वाले, आसक्ति से परे, उदासीन व्यक्तित्व के धनी, वैराग्य का भाव इतना प्रबल था कि एकाधिक बार उन्होंने गृहत्याग किया था। विवाह पूर्व दादामहाशय बिना बताये कहीं चले गये थे। उनको

पकड़ कर घर लौटा कर लाया गया था। विवाह उपरान्त भी गृहस्थी में उनका मन नहीं लगता था। भगवद्भजन, संकीर्तन में उनका मन रमा रहता था। घर में बिना सूचित किये कहीं न कहीं रात्रि व्यतीत करते थे नामकीर्तन के आकर्षण में। कण्ठ संगीत, तथा विविध यन्त्र संगीत में वे पारदर्शी थे। अर्थोपार्जन के सम्बन्ध में वे निरुत्साही एवं किसी तरह की सोच नहीं रखते थे सम्पूर्ण निर्लिप्त। इसका परिणाम दीदीमाँ को सम्भालना पड़ता था। पिता के घर सुख में पल कर, अपनी गृहस्थी में, दीदीमाँ के भाग्य में लिखा था दरिद्रता के साथ कठोर संग्राम।

बछड़े के बिछड़ने की भूमिका में दीदीमाँ

दीदीमाँ के जीवन में नववधू की भूमिका मात्र चार साल की थी। सन् १८९३ (बंगाब्द १३०० में) दीदीमाँ, माता की भूमिका में आती हैं। प्रथमा कन्या-सर्वमंगला आयी थी। नैसर्गिक सौन्दर्य सम्भार के साथ। यद्यपि जन्म के कुछ महीनों के अन्तराल में नवजात कन्या दीदीमाँ की गोद खाली करके चली जाती हैं। विपत्ति पर विपत्ति उन दिनों दादामहाशय लापता थे। दीदीमाँ की उम्र जब १८/१९ साल थी उसी समय उनके जीवन में होती है सर्वमंगलमांगल्यकारिणी घटना। उसी शुभ संयोग का पूर्वाभास-दीदीमाँ के मानस पटल पर दिव्य भाव का समावेश सुनने में आता है। उक्त समय विविध देव देवी की मूर्ति दीदीमाँ के समक्ष उपस्थित होती थी। बंगाब्द १३०३, १९ वैशाख, खेओड़ा ग्राम में दीदीमाँ को आश्रय करके एक कन्या धरती पर अवतरित होती है। उनका नाम निर्मला सुन्दरी। ये ही हैं श्री श्री आनन्दमयी माँ।

श्री श्री माँ के आविर्भाव के बाद, दस वर्ष में, दीदीमाँ के

तीन पुत्र सन्तान का जन्म हुआ था– ज्येष्ठ पुत्र– काली प्रसन्न, द्वितीय पुत्र–दुर्गा प्रसन्न एवं तीसरे पुत्र हरिप्रसन्न। दुर्भाग्य से अनुमेय १३१३ (बंगाब्द) में कतिपय महीनों के अन्तराल में तीनों बालक एक-एक करके दीदीमाँ से सदा के लिए विदा लेते हैं। बिना मेघ के वज्राघात! ऐसे अति कठोर पुत्र शोक में दीदीमाँ को ढाँढ़स बँधाया था निर्मला सुन्दरी ने– मौखिक वाणी से नहीं, आँखों के पानी से। क्या वह भातृशोक के आँसु थे? या माँ का वह क्रन्दन– रोने को रोकने का क्रन्दन। बेटी का रोना सुनकर दीदीमाँ शान्त हुए बिना नहीं रह सकती थीं।

कौन गर्भधारिणी ऐसी होगी जो पुत्रशोक से व्याकुल ना हो। दीदीमाँ की विशेषता यह थी, कि दीदीमाँ के शोक में जिन्होंने ढाँढ़स बँधाया था, शान्ति प्रदान किया था, वह ही मूर्तिमती श्रुति की वाणी– "तरति शोकमात्मवित्"।

भगवान् दीदीमाँ को पाँच सन्तान देकर उनमें से चार को उठा लेते हैं। रहती हैं केवल निर्मला– दीदीमाँ की आँखों की पुतली निर्मलासुन्दरी शुक्लपक्ष की चन्द्रकला की भाँति शनैःशनैः रूपलावण्यमण्डित होने लगती हैं। जातिधर्म से ऊपर उठकर, सभी उनको प्यार करते थे, सादर स्नेह की भावना रखते थे। उनके अति मधुर स्वभाव देख कर सभी उनके प्रति खींचे चले आते थे। चार सन्तानों के दिवंगत होने के उपरान्त अकेली निर्मला ही थी दीदीमाँ की एक सहारा। कालक्रम से उनकी और दो कन्या हुई थीं, दीदीमाँ के जीवित रहते ही दोनों का ही देहत्याग हो जाता है।

दीदीमाँ का सर्वदा हँसमुख देख कर कोई यह समझ नहीं सकता था कि जीवन भर से उनके हृदय पटल में इतनी चोटें पहुँची

थीं। भयंकर कठोर अग्नि परीक्षा में वे अनायास उत्तीर्ण हो सकी थीं। सम्भवत: इस कठोरता के सागर को पार करने का उनका उपाय यह था कि, वे प्रत्येक घटना के भीतर भगवान के कल्याणमय हस्त को देखती थीं। इसके अलावा जो व्यक्ति संगवर्जित है, उसको किसी भी तरह की समस्याएँ कभी विचलित नहीं कर सकतीं। जिनको सुख की अभिलाषा नहीं है, दु:ख की ताड़ना से वह भयभीत नहीं होता। भगवान् पर जो विश्वास रखते हैं, वे जानते हैं लंगर डालने वाले नाव की तरह, वह तूफान पानी, झंझावात में, निरापद् विपदा रहित हैं।

दीदीमाँ की टेली

दीदीमाँ के शोक जर्जरित जीवन में जो लड़की उनकी अश्रुधारा को रोकने के लिए रोने का अभिनय करती है, दीदीमाँ उसको पहचान नहीं सकीं, वरना, दीदीमाँ की सोच थी कि उम्र के हिसाब से उसकी बुद्धि कम है। इसी कारण उसका नाम रखती हैं "टेली", "बेदिशा" इत्यादि। दीदीमाँ कहती थीं, "लड़की पूरी तरह सीधी है, बुद्धि इत्यादि नहीं है। लोगों की निगाहों से हटकर उस "क्षीण बुद्धि" कन्या के मानवी शरीर के आश्रय महाशक्ति की जो लीला चल रही थी, उसके प्रकाश होने का समय तब तक नहीं हुआ था। देखते ही देखते निर्मला की उम्र १२ वर्ष हो जाती है। तत्कालीन प्रथा अनुसार लड़की को अब घर में नहीं रखा जा सकता है, उसे सत्पात्र के हाथों में देना है। यहाँ तो गृहस्थी चलना ही मुश्किल है, कन्या के विवाह का पैसा कहाँ? कन्यादान के भार से मुक्त होने के लिये दादामहाशय को आखिर जमीन बेचनी पड़ी थी। प्रस्तुत प्रसंग को उल्लेख करते हुए, विवाह के प्राय: ५० वर्ष के अन्तराल माताजी एक दिन कहती हैं, "इतना धार्मिक परिवार, उनको भी जमीन

बेचकर लड़की के (अर्थात् श्री श्री माँ का) विवाह की तैयारी करनी पड़ती है। वहाँ उपस्थित जनैक साधु माताजी के सम्मुख जिज्ञासा रखते हैं। "माँ स्वयं जिस घर में आयी हैं, उस घर में भी इतना कष्ट? हँसकर माताजी जवाब देती हैं, "कष्ट ही तो उनके निकट कष्ट पाता है।" इस मातृवाणी में दादामहाशय एवं दीदीमाँ का एक सुन्दर चित्र निखर आता है। कष्ट, अर्थात् दुःख हार जाता है किससे? जो मानव **"दुखेष्वनुद्विग्नमनाः, सुखेषु विगतस्पृहः"**।

१३१५ बंगाब्द सन् १९०९ में

ढाका जिले के (वर्तमान बंगलादेश के अन्तर्गत) विक्रमपुर आट पाड़ा गाँव के श्रीरमणीमोहन चक्रवर्ती कालान्तर में बाबा भोलानाथ नाम से जाने जाते थे। बाबा भोलानाथ के साथ ही सुश्री निर्मला देवी (श्री श्री माँ आनन्दमयी) का शुभ मंगलमय परिणय सम्पन्न हुआ था। पतिदेव उक्त समय पुलिस विभाग में कार्यरत थे।

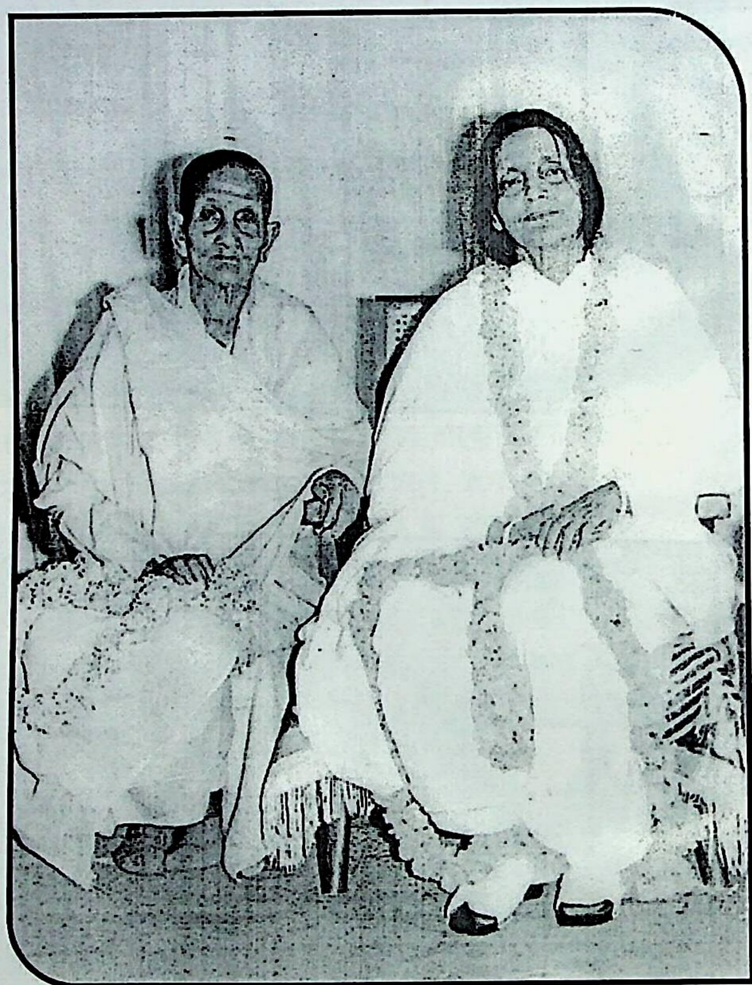
दीदीमाँ का शोक ताप की जिन्दगी में यही पहला शुभ अवसर था। कन्या सत्पात्रस्थ होती है– कितनी सुखमय वार्ता। दीदीमाँ का मनमन्दिर ना जाने कितनी ही आशाओं के हिलोरे ले रहा था। तब दीदीमाँ क्या यह कल्पना कर सकी थीं कि, उनकी उसी कन्या की ही गृहस्थी है यह पूरी दुनिया।

विवाहोपरान्त दीदीमाँ की लाड़ली ससुराल पधारती हैं। तदुपरान्त शुरुआत होता है दुनियादारी के परिप्रेक्ष में समस्याओं का अम्बार। पहली बात तो यह थी कि तब भोलानाथ की माता जीवित नहीं थीं। विवाह के दो साल उपरान्त उनके पिता नहीं रहे। इतना ही नहीं, नयी बहू के घर में आने के उपरान्त ही भोलानाथ जी की नौकरी नहीं रही, कुछ वर्षों तक वे निरालम्ब थे। उन दिनों माताजी बड़े जेठ

जी रेवतीबाबू के निकट रहती थीं। बड़ी जेठानी द्वारा गृहस्थी के सभी कार्य सम्भार सँभाल लेने के कारण माताजी उनके ही अधीन गृहस्थी के सभी काम काज निपुणता से करती थीं, यद्यपि सदा-सर्वदा माताजी में एक दूसरी दुनिया का रहस्यपूर्ण भाव देखा जाता था। भाव की लहरें जब आती थीं, तब बहुधा माताजी का श्री शरीर वश में नहीं रहता। जलते हुए चूल्हे के पास ही माताजी मानो ढुलक जातीं। चूल्हे पर चढ़ी हुइ जो भी चीज होती वह जल ही गयी। गृहस्थ घर की बहू के लिए इस तरह के आचरण शोभा नहीं देते। इन्हीं कारणवश माताजी को बातें सुननी पड़ती थीं।

माताजी का "दाम्पत्य जीवन भी असाधारण था। नौकरी मिलने के अनन्तर भोलानाथ जी माताजी को अपने कर्मस्थल ले जाते हैं, वहाँ जाकर माताजी के श्री शरीर में विविध अस्वाभाविक लक्षण प्रकाश होने लगते हैं। कितने ही तरह के योगासन, प्राणायाम के खेल स्वतः हो जाते थे। पहले से ही भोलानाथ के साथ माताजी का व्यवहार सामान्य नहीं था। पति-पत्नी के बीच एक दुर्लंघनीय दूरी थी। भोलानाथ जी देखते थे शय्या के निकट बैठी सहधर्मिणी की कितनी प्रकार की अवस्थायें। कभी लगता मूर्छा, तो कभी मृत्यु उपस्थित। भोलानाथ जी चिकित्सा की व्यवस्था करते हैं। परन्तु यह रोगिणी तो चिकित्सा के बाहर।

बाबा भोलानाथ दीदीमाँ को खबर भेजते हैं, अपनी समस्याओं को लेकर। दीदीमाँ भोलानाथ जी की कर्मस्थली जाना आवश्यक नहीं समझती हैं। दीदीमाँ ने समझ लिया था उनकी कन्या के इस आध्यात्मिक विकास के पथपर बाधा की सृष्टि करना उचित नहीं है।



दीदीमाँ की गृहस्थी यात्रा

दीदीमाँ की गृहस्थी में जीवन यात्रा का मान था सादा सीधा। वहाँ बिलासिता का स्थान नहीं था। दास दासी नियुक्त करने का सामर्थ्य नहीं होने के कारण, गृहस्थी के सभी काम काज दीदीमाँ को अपने ही हाथों से करने पड़ते थे। घर की झाड़-बुहारी, बर्तन मलना, पानी भरना, खाना बनाना वगैरह इत्यादि दीदीमाँ की गृहस्थी के नित्य कर्म का अंग। इनके अलावा नित्य नैमित्तिक कर्म थे। थोड़ी जमींन अपनी थी, उसमें धान की खेती होती थी। उस धान से चिवड़ा, मुरमुरा बनाया जाता था; बेंत से टोकड़ी आदि बुनना, सिलाई, विभिन्न तरह की टोकड़ियाँ बनाना, चावल इत्यादि फटकने के लिए बाँस के सूपा बिनना, कागज के फूल तथा झाड़ (बत्ती के) आदि के कामों में दीदीमाँ सर्वदा कार्यरत रहती थीं।

अपनी सुख-सुविधा की ओर उनका ध्यान नहीं रहता था। सिले हुए कपड़े पहन कर दीदीमाँ काम चलाती थीं। किसी के द्वारा अच्छे वस्त्रादि दान करने से दीदीमाँ उनको सादर ग्रहण करती थीं, बाद में किसी योग्य व्यक्ति को उक्त वस्त्र दान कर देती थीं। स्वयं के आहार आदि के प्रति दीदीमाँ पूर्णतया उदासीन थीं। सभी के भोजन की तैयारी करके, भोजन करवाने के उपरान्त जो अवशेष रहता, उसी को ही वह स्वयं के लिए पर्याप्त मानती थीं।

यद्यपि दीदीमाँ की गृहस्थी में धनाभाव था, परन्तु अतिथि अभ्यागत की सेवा कार्य में कभी त्रुटि नहीं होती थी। अनेकों बार ऐसा समय आता था कि अतिथि उपस्थित हुए हैं दीदीमाँ स्वयं का अभुक्त भोजन अतिथि को दान करके सन्तुष्ट चित्त दिन भर अनाहार या अल्पाहार में रह जाती थीं। "सर्वत्राभ्यागतो गुरुः" यह स्तोत्र

दीदामाँ को स्मरण नहीं था, परन्तु उनके आचरण में उक्त नीति फलीभूत हुई थी। गृहस्थ आश्रम में दीदीमाँ का कर्तव्य था ठाकुर जी की सेवा। किसी स्मरणातीत समय में पूर्व पुरुष द्वारा स्थापित है राज राजेश्वर नारायण शिला। दीदीमाँ के लिए उनकी कृपा का अन्त नहीं था। ये विग्रह दीदीमाँ के साथ इन्सान की तरह बातचीत करते थे। बालक वेश में दीदीमाँ के सामने आकर उन्होंने कहा था, "हरि का लूट देना।"

"हरि का लूट अर्थात् हरिनाम का लूट", हरिनाम लेकर प्रसाद रूप में बतासा इत्यादि को नाम कीर्तन करने वाले तथा हरिनाम में मतवाले भक्तों की ओर फेंका जाता था ताकि वह हाथ उठाकर नाम भगवान् का प्रसाद ले सकें। हरि का नाम सदा जाग्रत है हरिनाम का कीर्तन स्वत: ही भगवान् स्वरुप है। अत: हरिनाम संकीर्तन में साक्षात् नामी परमात्मा की उपस्थिति मानकर प्रसाद रूप में बतासा, फल आदि को संकीर्तन मण्डली की ओर, दूर से गेंद इत्यादि की भाँति फेंका जाता है। संकीर्तन में नाम गान मे मतवाले कीर्तनानन्दी उछल उछल कर भगवत् प्रसाद को सहर्ष अपने हाथों में गेंद की भाँति पकड़ लेते हैं भगवान् का भेजा हुआ प्रसाद उनके लिये साक्षात् भगवत् स्वरुप है। वही विग्रह आज काशी धाम में श्री श्री माँ आनन्दमयी आश्रम के श्री श्री माँ अन्नपूर्णा मन्दिर में विराजमान हैं।

गृहस्थ आश्रम में दीदीमाँ का मातृसंग

बंगाब्द १३३१, सन् १९२४, भोलानाथ जी ढाका में शाहबाग के विशाल बाग के तत्त्वावधायक पद पर नियुक्त होते हैं, तथा माताजी को लेकर वहीं निवास की शुरुआत करते हैं। अबकी बार माताजी का प्रकाश होता है अन्त:पुर की सीमा के बाहर। माताजी

को केन्द्र मानते हुए, शाहबाग में एक आनन्दचॉक बनता है। माताजी के आकर्षिणी शक्ति के प्रभाव से दादामहाशय एवं दीदीमाँ (माताजी के पिता तथा माता) विद्याकूट त्याग करके ढाका में रहने लगे। सुश्री गुरुप्रिया देवी (दीदी रूप में सुप्रसिद्ध) एवं उनके पिता के प्रयास से ढाका के ईश्वर घोष के बगीचे में दादामहाशय एवं दीदीमाँ के लिए एक घर लिया गया। उनके लिए की गयी सुखमय व्यवस्था को देखकर माताजी ने कहा था, "खुकुनी" (सुश्री गुरुप्रिया देवी का व्यवहारिक नाम) "अधिक कुछ नहीं करना। ये गुप्तभाव से इस रूप में ही रहने आये हैं। विशेष कुछ करने से रह नहीं सकेंगे। उनको अधिक समय नहीं पाओगे।" इस मातृवाणी में दादामहाशय एवं दीदीमाँ के व्यक्तित्व का एक वैशिष्ट्य पूर्ण चित्र सामने आता है। वे थे गुप्तयोगी-केवल सामयिक रूप से ढाका में अवस्थान काल में नहीं, सर्वत्र सर्वदा जो आत्माराम हैं, उनके लिए सुख की वस्तु या उपकरण की अपेक्षा नहीं रहती। शारीरिक–सुख समृद्धि की अधिकता उनके लिए मात्र सामान्य ही नहीं, असहनीय। दादामहाशय एवं दीदीमाँ का ढाका में निवास करने का उद्देश्य आराम करना नहीं था, मूल उद्देश्य था मातृसंग सुख का आस्वादन, अर्थात् माताजी के साथ रहने के आनन्द का उपभोग अनुभव करना।

ढाका में रहते हुए बंगाब्द १३३३, सन् १९२६ में दादा महाशय एवं दीदीमाँ माताजी के साथ तीर्थ पर्यटन का पुण्य अर्जित करते हैं। प्रथम कालीघाट, तदुपरान्त काशीधाम; वहाँ से हरिद्वार,ऋषिकेश, लछमन झूला, भीमगोड़ा, तदुपरान्त मथुरा वृन्दावन होकर ढाका लौटना। कुछ दिन बाद, माताजी को साथ लेकर दादामहाशय एवं दीदीमाँ यथाक्रम विद्याकूट एवं माताजी के जन्म स्थान खेओड़ा गाँव

में गये थे। माताजी का असली जन्म स्थान दीदीमाँ एवं दादामहाशय सही शिनाख्त नहीं कर सके। माताजी पहले तो चुपचाप थीं, बाद में एक घर के पीछे की एक जगह में जाकर माताजी स्थिर होकर खड़ी होती हैं। तदुपरान्त अचानक माताजी का बाहरी आचरण सभी के लिए आश्चर्य की सृष्टि करता है– जहाँ माताजी खड़ी थीं, उस जगह की थोड़ी मिट्टी हाथ में लेकर माताजी भयंकर रोने लगती हैं। बाद में माताजी के श्रीमुख से जाना जाता है, वही माँ का जन्म स्थान है। स्थानीय चिन्हों को देखकर दीदीमाँ भी उनका समर्थन करती हैं। माताजी आँखों का पानी पोंछ कर उस मकान के तब के मालिक को कहा था, "देखो! इस जगह को पवित्र भाव से रखने पर तुमलोगों का मंगल होगा।"

बंगाब्द १३३५ सन् १९२८ दिनांक १९ वैशाख ढाका सिद्धेश्वरी के स्थान में माँ का जन्मोत्सव। एक बड़े हॉल में जमजमाट कीर्तन चल रहा है। रात के प्रायः दस बजे से माताजी दीदीमाँ की गोद में सिर रख कर लेटी हैं। रात का अन्तिम प्रहर माताजी अपने कण्ठ की फूलों की माला से एक फूल हाथ में लेकर, फूल को पकड़ कर रख देती हैं। माताजी के जन्म (आविर्भाव) का लग्न (समय) उपस्थित होता है। भोलानाथ जी पूजा में बैठते हैं। दीदीमाँ पहले की भाँति स्थिर बैठी हैं। तब भी दीदीमाँ की गोद में माताजी सिर रखकर लेटी हैं माताजी के हाथ में शोभित हो रहा है वह फूल। माताजी का श्री शरीर निश्चल, हिल भी नहीं रहा है। अचानक देखा जाता है फूल के साथ माताजी की श्रीहस्त (हाथ) धीरे-धीरे दीदीमाँ के चरणों की ओर अग्रसर हो रहा है। माताजी के श्री शरीर में मानो प्राण का (जीवन का) कोई बाहरी लक्षण नहीं है, परन्तु हाथ मानो यन्त्र

चालित की भाँति यथास्थान पहुँच जाता है। उक्त पुष्प दीदीमाँ के चरणों पर निवेदित होता है।

भोलानाथजी षोड़शोपचार पूजा कर रहे हैं। कीर्तन चल रहा है। माताजी पहले की भाँति लेटी हुई अवस्था में हैं। बहुत देर बाद प्रयास करके माताजी को उठाया जाता है। दादामहाशय तब भी कीर्तन में मस्त थे। दादामहाशय के गले में माताजी अपने गले की फूल की माला पहना देती हैं एवं धरती पर लेट कर पूज्यपाद पितृदेव (पिताजी) को प्रणाम करती हैं।

गार्हस्थ्य आश्रम की अन्तिम पर्याय

दादामहाशय की नाम संकीर्तन की तन्मयता एवं दीदीमाँ की ठाकुर सेवा एवं नारायण रूप में अतिथि सत्कार एवं दोनों के सदाचार के बीच में संसार यात्रा (गृहस्थी) निर्वाह। यह सब एक होकर एक आदर्श गार्हस्थ्य आश्रम तैयार होता है। ये अपरिग्रही दम्पति अभाव-अनटन में भी सन्तुष्ट थे; निर्मल वैराग्य में उनका दैन्य उज्ज्वल रूप धारण करता है। उनका जीवन एक विराट् उच्चादर्श से अनुप्राणित (झंकृत) था, जीवन की अपेक्षा जीवनवल्लभ बड़ा (श्रेष्ठ)।

बंगाब्द १३४२ में (सन् १९३५) में दादामहाशय एवं दीदीमाँ ढाका त्याग करके कोलकाता में निवास करने लगे। उनके कनिष्ठ पुत्र यदुनाथ को कोलकाता में एक काम मिला था। बंगाब्द १३४३ से सन् १९३६ में ७१ वर्ष की उम्र में दादामहाशय कोलकाता में गंगातट पर देह त्याग करते हैं। दुनिया में रहकर भी जो जीवन भर दुनिया से बाहर थे, अब वे सदा के लिए दुनियाँ की पहुँच

से बाहर हो गये थे। जिनके कण्ठ दीदीमाँ माल्य दान करती हैं वे सामान्य व्यक्ति नहीं थे। दादामहाशय के देहान्त उपरान्त माताजी उनको सूक्ष्म में देखती हैं। उक्त प्रसंग में माताजी ने कहा था–"वैराग्य की मूर्ति, मानो शुभ्र घन ज्योति से बनी उज्ज्वल मूर्ति इस शरीर के साथ सभी अंग एकाकार हो जाते हैं। यद्यपि यह भी स्वरूप में ही, स्वरूप में जाने का अर्थ क्या है? जो है वही। अंश कहो, कण कहो, सर्वमय, सर्वभाव में सर्वरूप में, प्रभु कहो, दास कहो, रूप, अरूप, जो भी कहो यह ही तो स्वयं प्रकाश। वहाँ भाषा वाणी नहीं चलती।"

दीदीमाँ का संन्यास

दादामहाशय के देहान्त के उपरान्त दीदीमाँ के जीवन में पटपरिवर्तन हुआ, दुनिया की दृष्टि से दीदीमाँ के लिए गृहस्थी के कर्तव्य अभी समाप्त नहीं हुए थे। पिता के बिना, कनिष्ठ पुत्र एवं उनकी नवपरिणीता वधू गृहस्थी से अनभिज्ञ थे। दीदीमाँ कभी-कभी माताजी के साथ बाहर भी जाती थीं परन्तु उनको कोलकाता लौट कर आना पड़ता था, पुत्र एवं पुत्रवधू के लिए। उक्त बन्धन से बिना मुक्त होकर दीदीमाँ के लिए माताजी के साथ बिना किसी अंकुश से अर्थात् निर्बाध होकर रहना सम्भव नहीं था। दीदीमाँ के जीवन में वह शुभ संयोग अचानक तथा आशातीत रूप से उपस्थित होता है।

बंगाब्द १३४५, (सन् १९३८ में दीदीमाँ माताजी के साथ कनखल हरिद्वार गयी थीं। वहाँ निर्वाणी अखाड़े के श्री श्री १०८ मंगलानन्द गिरि महाराज जी के दर्शन का सौभाग्य लाभ होता है। उत्तराखण्ड के श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं में वे अन्यतम थे। महाराज का गहन शास्त्रज्ञान, कठोर उनकी तपश्चर्या, साधन-भजन, अध्ययन-अध्यापन में उनका समय व्यतीत हुआ था। बाहरी दुनिया

के साथ वे विशेष सम्बन्ध नहीं रखते थे। हिमालय के पाददेश में, जनविरल परिवेश में वे शिष्य मण्डली को लेकर सत्संग में तथा एकान्त में आत्म चिन्तन में निमग्न रहते थे।

प्रसंग क्रम में दीदीमाँ के दीक्षा-सम्बन्धी चर्चा चलती है। यद्यपि मंगलानन्द गिरिजी महाराज किसी महिला को दीक्षा नहीं देते थे। इस समस्या का समाधान क्या है? समाधान स्वतः ही हो जाता है। आप से आप। महाराजस्श्री समझ जाते हैं, दीदीमाँ के लिये नारी या पुरुष-यह विचार अर्थ रहित है। वे स्वेच्छा से दीदीमाँ को शिष्य रूप में ग्रहण करने के लिए सहमति देते हैं।

वह दिन था बंगाब्द की १३४५ वर्ष की विषुव संक्रान्ति, विगत वर्ष की जीर्ण थकी हुई रात बीत रही है। मंगलानन्द महाराज के पुण्याश्रम में माताजी, दीदीमाँ और भी कुछ लोग समवेत होते हैं। घनी रात, गम्भीर परिवेश, रात के तीन बजने वाले हैं। एक वृक्ष के मूल में झोपड़ी के भीतर दीदीमाँ का दीक्षानुष्ठान चल रहा है। विरजा होम की अग्नि शिखा प्रज्वलित होतीं है। आत्मीय स्वजन, काम क्रोधादि सब की स्वाहा मन्त्र में आहुति दी जाती है। महाराज दीदीमाँ को समझा देते हैं यज्ञ एवं मन्त्र के अर्थ तथा आखिर में कहते हैं,"बेटी! तुझको, संन्यास का जो कुछ देने का है सभी मैं दे चुका हूँ।"

आश्रम-प्रांगण में प्रायः निर्वापित शान्त होने वाली यज्ञहुताग्नि के सामने आसन पर बैठीं तपे हुए सोने के वर्ण समान मोक्षदा सुन्दरी। उनके परिधान में होमशिखा तुल्य वर्णोज्ज्वल गैरिक वस्त्र, उनका मुण्डित मस्तक। उनका संन्यास का नाम होता है "मुक्तानन्द गिरि महाराज। अनुष्ठान समाप्त होने के उपरान्त यथा समय पूर्वाकाश में अरुणोदय का पूर्वाभास देखा जाता है। नये साल की पहली प्रातः

बेला प्रथम प्रभात में प्रारम्भ होता है दीदीमाँ के संन्यास जीवन का नूतन अभियान।

माताजी दीदीमाँ को कहती हैं "सर्वदा ही मुझे कहा है, 'तू सभी को सब कहती है, मुझे कुछ क्यों नहीं कहती?' यही तो कहा। जो भला है वही तो कहा गया। दिन पर दिन लोग गृहस्थी में जकड़ जाते हैं। कितनों के भाग में इस तरह बाहर हुआ जा सकता है? अब केवल उसी एक के आत्म चिन्तन में रहने की ही कोशिश करो ज्ञान एवं स्वरूप नहीं होने पर कुछ भी नहीं हुआ।"

दीदीमाँ के निकट आश्रम की लड़कियों का दीक्षा का प्रस्ताव

साक्षात् अग्नि के संस्पर्श से एक-एक दीप प्रज्वलित हो उठता है। वही दीप पुनः सैकड़ों दीप प्रज्वलित करने की शक्ति धारण करता है। श्री श्री मंगलानन्द गिरि महाराज के आश्रय में शक्ति लाभ करके मुक्तानन्द गिरिजी महाराज भी गुरु के गौरवान्वित आसन अधिकार करने की योग्यता प्राप्त करती हैं।

भोलानाथ जी की उपस्थिति में दीक्षा देना उनका ही काम था; तदुपरान्त स्वामी अखण्डानन्द जी। आप दोनों के पांचभौतिक देहत्याग के उपरान्त प्रश्न उठता है आश्रम की कन्याओं को कौन दीक्षा देंगे। स्वामी शाश्वतानन्द जी महाराज एक नाम का प्रस्ताव रखते हैं– दीदीमाँ का नहीं, अन्य किसी का। साथ ही साथ माताजी कहती हैं, "अच्छा ही तो! यह अच्छा ही तो है।" उक्त कथन के द्वारा, माताजी के तरफ से प्रस्तावित गुरु को तथा प्रस्तावक संन्यासी को मर्यादा दी गयी। यद्यपि दीदीमाँ के गुरुरूप में प्रकाश के पथ में माताजी का ख्याल अनुकूल या प्रतिकूल यह स्पष्ट नहीं हुआ। इस प्रसंग में स्वामी परमानन्दजी महाराज को माताजी एक नाम सूचित

करती हैं। जवाब में स्वामीजी ने कहा, "इस तरह के व्यक्ति द्वारा लड़कियों को दीक्षा देना ठीक नहीं रहेगा वरना दीदीमाँ के द्वारा दीक्षा देना ही उचित। ऐसा होने से दोनों तरफ से डर का कोई कारण नहीं रहेगा।" दीदी अति प्रसन्नता के साथ स्वामीजी के इस प्रस्ताव का समर्थन करती हैं। यद्यपि उक्त सम्बन्ध में माताजी का ख्याल अनुकूल या प्रतिकूल वह तब भी स्पष्ट समझ में नहीं आया

दीदीमाँ द्वारा दीक्षादान-सम्बन्ध में माताजी का समझ में नहीं आने वाला ख़्याल

अप्रत्याशित भाव से माताजी दीदी से कहती हैं, "यह तुमलोगों ने क्या शुरु किया?..... इस विषय पर मेरी कोई बात नहीं है। हाँ-भी नहीं, नहीं भी नहीं। तुमलोगों की दृष्टि में अन्यत्र कहीं भी दीक्षा लेने से जैसे इस शरीर की स्वीकृति अस्वीकृति नहीं रहती, इस समय भी वैसा ही। इस शरीर की माता होने के कारण इस शरीर के लिये पृथक (भिन्न) कुछ भी नहीं। इस शरीर के लिए सभी बराबर। लोगों ने उनकी इच्छानुसार भोलानाथ से अखण्डानन्द से दीक्षा ग्रहण की है। इस विषय में इस शरीर का तो किसी भी तरह का हाँ, या ना नहीं था, पार्थक्य बुद्धि रहने पर तो हाँ, ना, रहेगा। अतएव दीक्षा सम्बन्ध में तुमलोगों की जैसी इच्छा, इस शरीर की तो कोई बात ही नहीं बापू।"

इस तरह की गुरुगम्भीर बातों के उपरान्त माताजी के श्रीमुख से निकलता है अतिरमणीय हास्यरस। अब माताजी रसिक-शिरोमणि भूमिका में।" माताजी कहती हैं-"देखो, यदि उक्त सम्बन्ध पर इस शरीर का कुछ कहना आ भी जाय, ऐसा होने पर भी उसको लेकर हँसी तमाशा भी हो सकता है। यदि कहा जाय वहीं पर ही दीक्षा

लो, तब कोई कहेगा ये स्वयं दीक्षा नहीं देतीं, परन्तु अपनी माता से दीक्षा दिला रही हैं। पुनः यदि नहीं.कहा जाय, ऐसा होने पर भी कोई-कोई कह सकते हैं कि,"माताजी तो दूसरे किसी के निकट दीक्षा लेने में आपत्ति नहीं करतीं, वरना दीक्षा लेने में उत्साह देती हैं। यहाँ अपनी माँ हैं ना, इसीलिए इतनी आपत्ति। स्वयं तो दीक्षा देंगी ही नहीं, माँ को भी दीक्षा देने नहीं देंगी।"

अनेक जगह देखा जाता है कि माताजी का ख़्याल वर्तमान प्रतिकूल प्रतीत होने पर भी, पर्दे के पीछे से अनुकूल। इस क्षेत्र में भी वही हुआ। माताजी कहती हैं,"इस शरीर की बात है– जो हो जाय। कौन क्या कहेगा या सोचेगा उससे इस शरीर की गतिविधि निर्धारित नहीं होती। अभी तो जो पहले हाँ ना जो भी कहा वह केवल तुमलोगों के साथ हँसी तमाशा करने के लिए-यहाँ किसी तरह का गोलमाल नहीं– जो हो जाय।"

माताजी की यह "जो हो जाय" वाणी की प्राण-सञ्चारिणी क्रिया चलने लगी। आश्रम की कन्याओं को दीदीमाँ ही दीक्षा देना प्रारम्भ करती हैं। तदुपरान्त प्रायः पच्चीस वर्षों से दीदीमाँ सैकड़ों-सैकड़ों नर-नारी के भव सागर पार लगाने की जिम्मेदारी स्वीकार की है। दीदीमाँ के इस मंगलमय कार्य में माताजी का लौकिक तथा अलौकिक ख्याल अनुकूल वातावरण तैयार करता है। इस प्रसंग में दीदीमाँ के अंतिम जीवन के एक स्मरणीय दिवस में दीदीमाँ के साथ सूक्ष्म में जो सब कथोपकथन हुआ था वह यथा स्थान चर्चित होगा।

गुरु रूप में दीदीमाँ

पिता के कुल में गुरु परम्परा, पति के कुल में गुरु परम्परा, पति वैराग्यवान्, भगवत् प्रेमी, गुरु प्रातः स्मरणीय श्री श्री १०८

स्वामी मंगलानन्द गिरि महाराज। कन्या स्वयं श्री श्री आनन्दमयी माँ। इस प्रकार शुभ संयोग की तुलना कहाँ?

दीदीमाँ की गुरुस्थिति उपलक्ष में माताजी ने कहा–"बिलकुल साधारण, सहज, सरल, जितनी विद्याबुद्धि की दिशा के माध्यम भाव का व्यवहार रूप, बातचीत के द्वारा भी तो देखा है, वही सत्य की छटा।"

प्रस्तुत माँ की वाणी के उपसंहार में भी हैं वही सत्य की छटा। "सत्य" शब्द की तत्त्व की दिशा। सामान्य मनुष्य के बुद्धि विचार से परे। व्यवहारिक दृष्टि से देखा जाय तो कहा जा सकता है कि दीदीमाँ के आचरण में जैसी सत्य निष्ठा थी, पृथ्वी के इतिहास में वह विरल है। दीदीमाँ ने स्वयं ही कहा था जितनी भी पुरानी याद आती है उन्होंने कभी स्वेच्छा से मिथ्या वचन नहीं कहे।

शिष्य शिष्याओं के साथ दीदीमाँ का जैसा सम्बन्ध था, वह सहज, सरल, अन्तर का आत्मिक व्यवहार था। दीदीमाँ किसी को भी डाँट कर रखना, या डाँटना, शासन करना इत्यादि से परे थी। किसी से भी किसी भी वस्तु की चाह उनके दिव्य स्वभाव से परे थीं। अपने निर्मल नैसर्गिक, प्यार की सहस्त्रधारा के परिवर्त में दीदीमाँ किसी से कुछ भी चाह नहीं रखती थीं। गुरु शिष्य के बीच किसी तरह की दूरी रखना उनके स्वभाव विरुद्ध था। गुरु के ऊँचे आसन पर बैठकर अपने श्रेष्ठत्व की प्रतिष्ठा का प्रयास उनके स्वभाव में असम्भव था। समतल भूमि पर उतर कर सभी के बीच एक होकर दीदीमाँ ने समभाव से सभी का कल्याण साधन किया है। उनकी प्रेम भावना अपनेपन की तुलना असंभव है। दीदीमाँ की स्नेह धारा का दिखावा अणुमात्र नहीं था; निदर्शन थे अपरिमेय। उनके स्नेह प्राप्त करने का

सौभाग्य जिनको हुआ, वे ही जानते हैं कि वह कैसी अमूल्य सम्पदा है।

दीदीमाँ को सर्वदा जप करते हुए मग्न देख कर एक सरल बालिका पूछ लेती है, "अच्छा दीदीमाँ ऐसी कन्या गर्भ में धारण करने के उपरान्त आप इतना जप किसलिए करती हैं?" उपस्थित सभी के तरफ़ अंगुली संकेत करके दीदीमाँ मधुर मुस्कान के साथ जवाब देती हैं–"सभी के लिए।" एक और समय दीदीमाँ के मुखारविन्द से अमूल्य वचन निकल कर आये थे। "जिन्होंने यहाँ आश्रय लिया है, अधिकांश ही गृहस्थ जीवन-नित्य निर्दिष्ट कर्म में व्रती रहते हैं। अधिक समय उनके लिए सम्भव नहीं हो पाता। उसी का ही पूरण–जैसा समझो।"

संकेत है–"गुरु ही पूरा करते हैं" शिष्य की सच्ची साधना"

शब्दझरी वाक् वैखरी द्वारा शास्त्र व्याख्यान का कौशल दीदीमाँ ने अपनी मुट्ठी में नहीं किया यह कौशल (कला) मुक्तिपथ के यात्री के लिए आवश्यक। मुक्तानन्द की थी मुक्तिपथ की महायात्रा। शास्त्र उनके कण्ठ में नहीं रह सके, परन्तु थे उनके जीवन के पत्ते-पत्ते पर। शास्त्र का शीर्ष सिद्धान्त स्पष्ट होता उनके भाषण में नहीं, आचरण में। दीदीमाँ के जीवन चरित की पर्यालोचना करने से चर्चा करने से स्वाध्याय का फल प्राप्त होता है। शास्त्र में है उपदेश; दीदीमाँ के जीवन में है उसी उपदेश का उदाहरण।

दीदीमाँ का संन्यास-उत्सव

शिष्य तथा भक्तगणों के प्रयास से दीदीमाँ के संन्यास दिवस की स्मृति रक्षा के लिए प्रतिवर्ष चैत की संक्रान्ति को उत्सव

मनाया जाता है। बंगाब्द १३६८ (सन् १९६१) वर्ष, कुछ शिष्यों की आकाङ्क्षा थी, इसी वर्ष चैत की संक्रान्ति पर एक विशेष उत्सव की तैयारी करनी पड़ेगी। माताजी उनके उत्साह को वढ़ावा देती हुई कहती है,"तुमलोगों के मन में जब ऐसी भावना उत्पन्न हुई है, तुमलोगों की इच्छा होने से हरिद्वार में पूर्ण कुम्भ के अवसर पर साधु महात्माओं की उपस्थिति में यह उत्सव कर सकते हो।" तदनुसार दिनांक ७ अप्रैल से १३ अप्रैल तक सप्त दिवस व्यापी उत्सव हरिद्वार में मनाया गया था।

आयोजन की रुपरेखा इस प्रकार थी। "मुक्तानन्द गिरिजी महाराज" (दीदीमाँ) की नित्य पूजा, आरति, महात्माओं द्वारा भाषण तथा सुकण्ठ गायक-गायिकाओं के भजन, कीर्तन की सुमधुर स्वर लहरी से दिक्मण्डल दिशाएँ मुखरित रहती थीं। कुम्भ में उपस्थित भारत विख्यात साधु सन्तों ने उनकी औदार्य पूर्ण सहयोगिता द्वारा उक्त उत्सव को सफलता पूर्वक निभाया था। जिन महात्माओं ने सक्रिय अंश ग्रहण किया था, उनमें उल्लेख योग्य-पूज्य स्वामी चेतन गिरिजी (भूतपूर्व महामण्डलेश्वर, कैलास आश्रम, हरिद्वार), पूज्य स्वामी श्री नारदानन्द जी महाराज (नैमिषारण्य), पूज्य स्वामी श्री शरणानन्दजी महाराज (मानव सेवा संघ, वृन्दावन), पूज्य स्वामी श्री स्वरुपानन्दजी महाराज (महामण्डलेश्वर भोलागिरि आश्रम हरिद्वार), पूज्य स्वामी महाराज श्री महेशानन्द जी (महामण्डलेश्वर निरञ्जनी अखाड़ा), पूज्य स्वामी श्री शुकदेवानन्द जी महाराज (परमार्थ निकेतन ऋषिकेश), पूज्य स्वामी श्री विष्णुआश्रम जी महाराज (शुकताल) पूज्य स्वामी श्री कृष्णानन्द अवधूत जी महाराज (वृन्दावन), पूज्य स्वामी महाराज श्री भागवतानन्द जी (महामण्डलेश्वर, हरिद्वार), पूज्य

स्वामी महाराज श्री स्वतन्त्रानन्द जी (महामण्डलेश्वर, कैलास आश्रम, हरिद्वार), पूज्य स्वामी श्री असंगानन्द जी महाराज (महामण्डलेश्वर, उदासी सम्प्रदाय), अध्यक्ष पूज्य स्वामी श्री वासुदेवानन्द जी महाराज (विलेपार्ले, संन्यास आश्रम)।

दीदीमाँ स्वे महिम्नि प्रतिष्ठिता

(दीदीमाँ निज महिमा में प्रतिष्ठित)

साधु महात्मा एवं जनसाधारण दीदीमाँ के प्रति भक्ति भाव रखते थे। इसका कारण यह नहीं है कि दीदीमाँ माताजी (माँ आनन्दमयी) की माता हैं, इसके दूसरे कारण भी हैं– दीदीमाँ के जैसे भक्तियोग्य मनुष्य धरती पर विरले ही हैं। दीदीमाँ को लोग श्रद्धा एवं सन्मान करते थे, माताजी की माँ हाने के कारण भक्ति करते थे, दीदीमाँ के स्वयं के चरित्र गुण के कारण। दीदीमाँ थी, ''स्वे महिम्नि स्थिता।'' अर्थात् स्वयं की महिमा में स्वयं सुप्रतिष्ठिता।

दीदीमाँ की महिमा को दो भागों में देखा जा सकता है। आत्मोपलब्धि की दिशा, तथा यथार्थ जीवन में आचरण की दिशा। किसी भी व्यक्ति की आत्मोपलब्धि की दिशा अन्य किसी व्यक्ति द्वारा जान लेना संभव नहीं, तथा भाषा द्वारा वर्णन भी संभव नहीं। दीदीमाँ आत्मस्वरुप को पहचान सकी थीं या नहीं, अध्यात्मपथ पर कितनी दूर तक अग्रगति हुई थी इत्यादि प्रश्न व्यर्थ एवं धृष्टता पूर्ण हैं। उन प्रश्नों को सामने रखने का दुःसाहस वर्तमान लेखक का नहीं है।

व्यवहारिक दृष्टि से भी दीदीमाँ के चरित्र का यथायथ चित्राङ्कन करना असम्भव असाध्य है। पुस्तक सूचना में ही सूचित किया गया हैं कि, दीदीमाँ अतिशय सावधानी से अपने को पर्दे के पीछे रखती थीं। यद्यपि यह बात भी सत्य है कि दीपक कभी भी

अपना प्रकाश अपने में सम्पूर्ण रूप से छुपा कर नहीं रख सकता। आलोक का धर्म ही प्रकाश। दीदीमाँ के आचरण में जो ज्योति निखर कर आती थी उसी ज्योतिकण की सहायता से दीदीमाँ के चरित्र के कतिपय अंगों का अवलोकन किया जाय।

दीदीमाँ का धीरज

दीदीमाँ की यादगार आते ही पहले चरण में वह शान्त, धीर स्थिर मूर्ति, स्थिरता में मानो मूर्तिमती वसुन्धरा, आँखों के सामने आ जाती है। सत्संग में दीदीमाँ घन्टों तक माताजी के निकट शान्त बैठी रहती थीं। उनके अधखुले नेत्रों को देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो उनका मन कहीं चला गया हो। विजया दशमी दशहरे को सैकड़ों दर्शनार्थी भक्तों का प्रणाम हँस मुख स्वीकार करते हुए प्रति व्यक्ति को अपने कर कमलों से प्रसाद देती थीं। साथ ही दिल खोल कर आशीर्वाद दिया करती थीं यद्यपि शरीर जराजीर्ण हो चुका था परन्तु काठी सीधी तथा कष्ट सहिष्णु थी। निरन्तर प्रसाद वितरण करते-करते दाहिना हाथ थक जाता था, परन्तु उनके चेहरे पर दिव्य आनन्द की छटा रहती थी।

क्रोध के साथ दीदीमाँ का परिचय नहीं था। दीदीमाँ की क्रोधान्वित मूर्ति कभी किसी के दृष्टि में नहीं आयी। एक भक्त ने कुतुहल वशतः एक-एक भक्त के सामने जिज्ञासा रखी थी, "दीदीमाँ को कभी क्रोध में देखा है?" अगणित भक्तों की एक ही आवाज़ सुनने में आती है– "नहीं" भिन्न-भिन्न स्थानों में, विभिन्न समय, सभी श्रेणी के भक्तों से लोगों से एक ही जिज्ञासा की गयी थी दीदीमाँ को क्रोध स्पर्श करता है या नहीं स्थान काल पात्र निर्विशेष जवाब आया दो अक्षरों का "नहीं"। दीदीमाँ का क्रोध है या नहीं? यह प्रश्न ही

व्यर्थ है।

यथार्थ में एकाधिक समय देखा गया है–जिस स्थिति में अप्रसन्न होने के कारण होते हैं वहाँ भी दीदीमाँ अविचलित रहती हैं। किसी के अशिष्ट दुर्विनीत व्यवहार को देखकर दीदीमाँ कभी उसका अपराध नहीं देखती थीं। वरना दीदीमाँ के मन में अशान्ति का अहसास होता था, कहीं माताजी तक बात पहुँच न पाय। जिस व्यक्ति के द्वारा यह गलती होती है। उसे यदि डाँट पड़े यह भी दीदीमाँ को स्वीकार नहीं।

दीदीमाँ के क्रोध रहित स्वभाव का आशय यद्यपि यह है– यह मनुष्य कुछ चाहता है, काम्य वस्तु नहीं मिलने से वह क्रोधित हो जाता है। दीदीमाँ की किसी तरह की चाह नहीं थी, अतएव क्रोध को उद्भव का अवकाश ही कहाँ?

दीदीमाँ के धैर्य सम्बन्ध में माताजी दीदीमाँ से कहती हैं– "माँ! तुम्हारा यह माथा किस से तैयार किया था? इतना ठन्डा शान्त मस्तक!"

दीदीमाँ दुःख में अनुद्विग्नमना, सुख में विगतस्पृह

दीदीमाँ का जीवन घटना बहुल नहीं था। पूर्वाश्रम की जो कुछ घटनाएँ, सभी निज गृहस्थी की छोटी परिसीमा में बँधी हुई हैं। संन्यास आश्रम में भी दीदीमाँ को केन्द्र बनाकर बाहरी दृष्टि में उल्लेख योग्य घटना विशेष कुछ नहीं थी, परन्तु माताजी की अखिल भारत परिक्रमा लीला में प्रायः बत्तीस वर्षों से दीदीमाँ की एक, मौन परन्तु महान् भूमिका थी।

घटना विरल जीवन यात्रा के अन्तर्गत ही दीदीमाँ के चरित्र

की विशेषता निखर आई थी। शान्त धीर स्थिर दुःख में घबराना नहीं, सुख में इच्छाओं से ˙ रे। प्रस्तुत प्रसंग में निम्नलिखित मातृवाणी उद्धृत की जाती है। 'विद्याकूट से खेओड़ा जाना, खेओड़ा से विद्याकूट जाना। यह मानो एक घर से दूसरे घर जाना। छोड़ने पकड़ने का, तथा अभाव की परेशानी का कण मात्र भी किसी ओर से पाया नहीं जाता था। किसी जगह को बुरा भला लगना, इनका तो चिन्ह मात्र भी देखा नहीं जाता था। एक जगह से हटाने से जैसा दूसरी जगह जाने पर भी वैसा ही। जहाँ जैसा अनुकूल-प्रतिकूल, उस तरफ़ नहीं जाकर शान्त धीर स्थिर भाव से सब ओर ही सत्य को ठीक अनुकूल लेकर ही क्रिया देखी जाती थी प्रसन्न योग में। यही धारा सर्वदा ही व्यवहार की भूमिका में चलने बोलने के राज में चलना बोलना जैसे, अचल, मौन की सीमा की उनके पास वैसा ही।'

"न प्रहृषेत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्" गृहस्थ आश्रम में दीदीमाँ की दुःख की अग्नि परीक्षा थी– उसका विवरण दिया गया है। संन्यास आश्रम में दीदीमाँ का दुःख नहीं था, वरना उनके हाथों में सुख की बाढ़-प्रतिष्ठा, प्रभुत्व, ऐश्वर्य इत्यादि भोग का सुवर्ण अवसर। यद्यपि यह अवसर उनके लिए अति सामान्य था। उनकी कन्या राजराजेश्वरी। उसी कन्या के दिक्पाल सन्तान गणों के विपुल वैभव दीदीमाँ की सेवा में नियुक्त अनायास हो सकता था। परन्तु अमित ऐश्वर्य का परिवेश ही प्रकट हो गया था। दीदीमाँ के चरित्र का स्वकीय वैशिष्ट्य-सुख में विगत स्पृह, आकांक्षा, कामना रहित। अशेष सुख का स्वाद जिसको प्राप्त होता है, छोटे-छोटे सुख में उसकी अभिलाषा रहेगी कैसे?

दीदीमाँ सर्वारम्भ परित्यागी एवं निरहंकार

दीदीमाँ का संन्यास जीवन कर्म रहित, वैचित्र्यहीन था। उन्होंने सैकड़ों-सैकड़ों नर-नारी को दीक्षा दान दिया है, यह ठीक हैं परन्तु इस महनीय कीर्ति का लीला क्षेत्र गुरुशिष्य के मानस लोकमें, लोक चक्षु के अगोचर। किसी भी जीवनीकार का प्रवेशाधिकार नहीं है उस दूरदर्शनीय, गूढ़, दुरधिगम्य राज्य में।

यथार्थ में, "कीर्ति" शब्द शायद दीदीमाँ के लिये प्रयोजनीय नहीं है। "कीर्ति" कर्म की अपेक्षा रखती है। मुक्तानन्द गिरिजी थीं, कर्म तथा अकर्म से ऊपर । चाहने से गिरिजी एकाधिक कीर्ति स्तम्भ करके जा सकती थी। उनके श्रीमुख से उच्चारित होने पर अनेक मठ, मन्दिर, अस्पताल तैयार हो सकते थे। उक्त सभी प्रतिष्ठान दीदीमाँ के नाम से प्रतिष्ठित होने पर, प्रस्तुत जीवनीकार ढोल आदि बाजों के साथ बहुत बातें लिख सकता था, पत्र पत्रिकाओं में भी जय जय कार हो जाती। परन्तु दीदीमाँ सर्वारम्भ परित्यागी जो थीं। जिनके लिये निन्दास्तुति बराबर, उनकी दृष्टि में 'जय जयकार' अर्थहीन शब्द मात्र।

श्रीमद्भगवद्गीता के स्थित प्रज्ञ-प्रकरण के उपसंहार में श्री भगवान् कहते हैं– "जो सभी वासना (कामना) का त्याग करके, निर्मम, स्पृहा रहित तथा अहंकार का परित्याग करके परिभ्रमण करते रहते हैं, वही शान्ति को पा लेते हैं। माताजी एक ही दृष्टान्त द्वारा उक्त भगवद्वाणी का अर्थ स्पष्ट कर देती हैं। दीदीमाँ के लिए माताजी ने कहा है– "मैं, मेरा, मेरापन, इस ओर भी मानो निर्मूल।"

श्रीमद्भगवद्गीता के उक्त श्लोक की विस्तारित व्याख्या ही दीदीमाँ का पुण्यमय जीवन।

दीनबन्धु दीदीमाँ

दीदीमाँ का स्वाभाविक प्रेम, सौजन्य तथा सहृदयता की भावना सभी पर बरसती थी, कोई भी इससे वञ्चित नहीं होता था। यद्यपि दीदीमाँ की विशेष कृपा दृष्टि उनपर रहती थी जो उपाय रहित एवं असहाय थे।

माताजी के दर्शन करने वालों के अति कठिन जनारण्य में जिनकी कोई पूछताछ नहीं है, या पीछे खड़े होने वाले हैं, कर्तृपक्ष के सामने प्रसाद माँगने का भरोसा जिनको नहीं है, वही डरे हुए, सीधे सादे स्वभाव के मातृ सन्तानों के लिये दीदीमाँ के भण्डार में थोड़ा प्रसाद अवश्य ही रहता था। अपने पास प्रसाद के नहीं भी रहने से जिस किसी भी उपाय से एक चुटकी मात्र भी प्रसाद के संग्रह न होने तक दीदीमाँ शान्ति का अहसास नहीं कर सकती थीं। दीनबन्धु थीं दीदीमाँ।

निर्भर योग्य प्रत्यक्ष दर्शियों से सुने गए कुछ सत्य घटनाओं का विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

१– सामान्य परिवार की लड़की, उसके माता-पिता नहीं हैं; वह भाईयों की गृहस्थी में काम करके अपना जीवन व्यतीत करती हैं। आनन्दमयी आश्रम में उसका आना-जाना है। उसको आश्रम की रसोई में रोटी का आटा तैयार करने की सेवा दी गयी थी। प्रसन्न मन से वह समयानुसार अपना कर्तव्य पूरा करती थीं। एक दिन उसको बुखार हुआ था, उसने काम से अवकाश माँगा था उसको अवकाश मिल भी गया था। परन्तु उसको सुननी पड़ी थीं एक बात "प्रसाद लेने के लिए तो लोग मिल जाते हैं, काम के लिए लोग नहीं मिलते।" उस समय आश्रम के हॉल से थोड़ी दूर एक छोटे से कमरे

में टेप रिकार्ड में सुश्री छबिबन्द्योपाध्याय का कीर्तन बजाया जा रहा था। उक्त लड़की की दिल की इच्छा थी वह उस छोटे कमरे में बैठकर कीर्तन सुनेगी। परन्तु वह हिम्मत जुटा नहीं पा रही थी। ताकि कोई यह नहीं कहे काम नहीं करके गाना सुन रही है। वह हॉल में जप करने बैठ जाती हैं। उसका मन कीर्तन में रम रहा था। हॉल से कीर्तन भली भाँति सुनने में नहीं आ रहा था। इस हालत में वह देखती हैं, हॉल के पास बरामदे में दीदीमाँ उँगलियों के इशारे से उसको बुला रही हैं। दीदीमाँ के निकट जाते ही दीदीमाँ उसको कहती हैं, "मेरा मोढ़ा ले आओ"। मोढ़ा हाथ में लेकर दीदीमाँ के पास आते ही दीदीमाँ उसको लेकर उसी छोटे कमरे में ले जाती हैं जहाँ छबि के भजन बजाये जा रहे थे। वहाँ जाकर, दीदीमाँ मोढ़े पर बैठती हैं। लड़की के विदा लेने का उपक्रम करते ही दीदीमाँ कहती हैं, "यहीं रह"। दीदीमाँ के निकट खड़ी रहती हैं अनाथ लड़की। जब तक गाना बजता रहा तब तक दीदीमाँ स्थिर होकर बैठी रहीं उसी मोढ़े पर और तब तक दीदीमाँ की हाथ की मुट्ठी में उस लड़की की साड़ी का किनारा था। भजन समाप्त होता है। तब दीदीमाँ उठ पड़ती हैं। लड़की की मन की व्यथा दीदीमाँ समझ गयी थीं। उन्होंने उसकी पीड़ा व्यथा को दर्द से ही दूर कर दिया। बाहर का कोई, जान भी नहीं सका।

२– दीदीमाँ की एक दिल्ली निवासिनी शिष्या की आकाङ्क्षा थी वृन्दावन जाकर माँ का संग करे। परन्तु अर्थाभाव के कारण उसकी मन की अभिलाषा मन में ही रही। आशातीत रूप से दीदीमाँ उसके हाथ में रुपये देकर कहती हैं "वृन्दावन के खर्चे के लिए" लड़की हैरान। गुरु से दान स्वीकार करने में वह संकोच कर रही थी। दीदीमाँ उसको समझा कर कहती हैं, "गुरु स्वेच्छा से दान करते हैं, तो उसे

ग्रहण करने में दोष नहीं।'' तब वह लड़की कृतज्ञता के साथ दीदीमाँ का स्नेह का दान सिर झुका कर स्वीकार करती है।

३– वृन्दावन आश्रम। माताजी का भक्त एक लड़का कुछ दिनों तक अपनी धर्म पत्नी के साथ मातृसंग करने के उपरान्त विदा लेते समय माताजी को प्रणाम करने आता है। उक्त समय माताजी को अतिशय व्यस्त देखकर दूर से ही प्रणाम करते हैं। माताजी उन सभी के हाथों में एक-एक फल दूर से फेंकती हैं। उस फल को हाथ में लेकर सभी बाहर आते हैं। इतने में अचानक कहाँ से दीदीमाँ आकर उनका रास्ता रोक कर कहती हैं, ''तुमलोगों की माताजी ने तुम्हारे बच्चे के लिए कुछ दिया है?'' उन्होंने केवल इतना ही कहा था, ''माताजी तो अभी बहुत व्यस्त हैं।'' दीदीमाँ उनसे कहती हैं, ''खड़े रहो''। इसके बाद कहीं से एक फल लाकर दीदीमाँ उनके हाथों में देती हैं। इस अभावनीय कृपालाभ से वह दोनों कृतार्थ हो जाते हैं।

श्रीमद्भागवत कहते हैं–''साधवो दीनवत्सला:''। दीदीमाँ की दीनवत्सलता का अगणित दृष्टान्त है। ऊपर दी गयी छोटी-छोटी घटनाओं से समझ में आता है दीदीमाँ हैं साक्षात् समवेदना; एवं अनुमान करना असंगत नहीं। व्यक्ति की मनोभावना समझने की शक्ति उनमें थी, यद्यपि उसका प्रकाश विरल था।

दीदीमाँ के त्याग द्वारा भोग

दीदीमाँ सभी की तरफ देखती थीं, देखतीं नहीं थीं तो अपनी तरफ़। गार्हस्थ्य आश्रम में, अभाव कष्ट में भी अपने को वंचित करके अतिथि सत्कार तथा देवसेवा किया करती थीं। संन्यास आश्रम में जब आनन्दमयी माताजी का अक्षय भण्डार दीदीमाँ के करतल गत (अर्थात् हाथों में) तब भी उनका यही स्वभाव अटल था। एक दिन

की बात है "बाघाट हाऊस" के एक कमरे में दीदीमाँ बैठी हैं। उनके पास एक टोकरी आम रखे हुए हैं। जो प्रणाम करने आयेंगे उनके लिए चुन-चुन कर अच्छे आम दीदीमाँ एक तरफ रखती जा रही हैं। कुछ आम प्रायः सड़ गये हैं। देखकर दीदीमाँ उनको अलग से रख देती हैं। माताजी की एक कुतुहली कन्या दीदीमाँ से पूछती हैं, "दीदीमाँ! उन आमों को अलग से क्यों रखा?" दीदीमाँ कहती हैं,"वह सड़े हुए आम हैं, सड़ी हुई चीज किसी को नहीं दी जाती। इसीलिए अलग से रख दिया।" लड़की पूछती है,"सड़े आमों को लेकर क्या होगा?" दीदीमाँ ने कहा,"सड़े आम मैं लूँगी।"

"त्यक्तेन भुञ्जीथाः" उक्त वाणी का सहज सार मर्म यह है कि "खाकर जो आनन्द सुख होता है, खिला कर उससे अधिक सुख, आनन्द होता है। स्वयं के सुख में विगतस्पृह (इच्छा रहित) होकर यदि कोई परार्थपर (दूसरे के) सुख का संस्कार अर्जन कर सकता है, अनायास ही उसका विषय में विराग (वैराग्य) आता है। भोग लोलुपता में उसकी कमी आती है, तृष्णा के विषैले दाँत टूट जाते हैं।

अस्ति, भाति, प्रीति

शास्त्र वाक्य– भगवान् के साथ जीव का नित्य सम्बन्ध है। उक्त कथन की पुनरावृत्ति प्रायः एकाधिक जन करते रहते हैं। परन्तु विश्वास का मेरुदण्ड कितनों का है? मन में विचार आते हैं, संदेह, संशय आता है-- वास्तव में भगवान् हैं क्या? कहाँ हैं वे?

उक्त विषय में दीदीमाँ का परम सौभाग्य यह है कि विचार विमर्श करने की उम्र में पहुँचने से पहले ही उनका आस्तिक्य बोध अर्थात् ईश्वर के प्रति पूर्ण विश्वास का संस्कार दृढ़प्रतिष्ठ हो चुका था।

पहले ही लिखा जा चुका है, दीदीमाँ ने किसी समय कहा था–"बाल्यावस्था से ही उनका दृढ़ विश्वास था कि भगवान् एक कोई है; एवं यह बात भी दीदीमाँ के मन में आती थी कि शायद बहुत दूर कहीं जाने पर भगवान् का साक्षात्कार प्राप्त हो सकेगा। यह असामान्य "दृढ़ विश्वास" शिक्षा सापेक्ष नहीं अपितु स्वभावजात है।

सामान्य मानव की जीवन यात्रा में दृढ़ विश्वास का एक दृष्टान्त दिया जा सकता है– धरती पर विश्वास। हम बिना किसी संशय, पूरे विश्वास के साथ धरती पर रहते हैं, चलते-फिरते रहते हैं; कारण हम जानते हैं धरती माता किसी को फेंक नहीं देंगी। भूकम्प, चक्कर आना आदि आगन्तुक कारणों से हम शायद गिर सकते हैं, यद्यपि हम आश्रय प्राप्त करते हैं उसी मिट्टी की ही धरती पर, उसी मिट्टी के सहारे हम पुनः उठते हैं। उसी मिट्टी के ऊपर से चलते हैं। धरती की निर्भर योग्यता हमारे लिए स्वतः सिद्ध है, प्रमाण की आवश्यकता नहीं। बिना विचारे हम स्वीकार कर लेते हैं धरती हमारा कभी नहीं छूटने वाला अमोघ आश्रय है। यद्यपि धरती के निर्माता, स्रष्टा, उन अच्युत केशव को सामान्य व्यक्ति इतनी सरलता से विश्वास नहीं कर पाता। दीदीमाँ के लिये था आशैशव बाल्यावस्था से आस्तिकता पर सरल विश्वास। यही कारण था दीदीमाँ को सामान्य से ऊपर मानने का अर्थात् असाधारण।

भगवान् "अस्ति रूप में अपने को प्रकट करके तदुपरान्त पधारते हैं भाति- रूप में उपस्थिति द्वारा। दीदीमाँ की शिशुकालीन आस्तिकता बढ़ती उम्र में उनकी आँखें खोल देती हैं। वह देखती है भगवान् के कल्याणमय हाथों का सहारा सुख-दुःख में बराबरी अर्थात् समभाव से पाया गया है। धीरे-धीरे भगवान् के साथ "प्यार

का'' प्रगाढ़ सम्बन्ध बन जाता है। माताजी के श्रीमुख से सुना है, दीदीमाँ का सर्वदा मन्त्र का आश्रय था। इस प्रसंग में निम्नलिखित मातृवाणी उल्लेखनीय है–''जो हो जाय-यह भाषा नहीं रहती थी; परन्तु सर्वत्र भगवान्, सब तरह की क्रिया भगवान् की– यह भाव प्रतिदिन समय के काम में। किसी काम में काम ठीक नहीं हुआ। अफसोस कभी नहीं देखा गया– जो भगवान् करें। यह उपदेश यद्यपि सभी समय उनके श्रीमुख से सुना नहीं जाता था परन्तु कार्य एवं व्यवहार में वह प्रकाश था। सर्वदा चिन्ता रहित।

सम्प्रति माताजी की श्रीमुख से निम्नलिखित वाणी स्फुरित हुई है। ''गिरिजी एक् असाधारण महिला थीं। पढ़ना-लिखना नहीं जानती थीं, पण्डित वंश में जन्म। बारह महीने विविध प्रकार के क्रिया कर्म होते, इसी कारण बहुत कुछ जानती थीं। गृहस्थी थी, ऋषि मुनियों की तरह आचार व्यवहार था। अनेक मन्त्र तन्त्र जानती थीं। गिरिजी क्या थीं यह कहकर समाप्त नहीं किया जा सकता।'' (श्रीमती कान्तिमयी दत्त की स्मृति अवलम्बन से लिखित दिनचर्या (डायरी) से उद्धत)।

दीदीमाँ का मातृ संग

माँ का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न के जवाब में दीदीमाँ ने कहा था,''उसको कहकर रखा है आखिरी समय सूचित करेगी।'' माताजी के भीतर दीदीमाँ ने पूर्णब्रह्म को पाया था या नहीं। धृष्टता भरा यह प्रश्न वर्तमान समय विचार योग्य नहीं है। यद्यपि दीदीमाँ की याददास्त में एक यादगार भूल जाने वाली नहीं है– माताजी का संग पाने के लिए दीदी माँ की उग्र आकाङ्क्षा थी। माताजी के स्थूल श्री शरीर को अपने निकट पाने के लिए दीदीमाँ ने कष्ट स्वीकार किया।

कितनी कठोर साधना, आहार निद्रा, विश्राम एवं शरीर की स्वच्छन्दता के लिए कितनी बाधायें उन्होंने हँसमुख स्वीकार की थी। गृहस्थी के सम्बन्ध को त्याग करते हुए दीदीमाँ ने संन्यास ग्रहण किया था, इसका मुख्य कारण था अबाध मातृसंग का आकर्षण। संन्यास का आश्रय लिया था, अतएव मातृलीला में एक बड़ी भूमिका निभा सकी थीं।

मातृ संग की आकाङ्क्षा को साकार करने के लिए दीदीमाँ के आचरण में बाल भूमिका दृष्टिगोचर होती थी। एक यथार्थ घटना का विवरण।

बंगाब्द १३६०, (सन् १९५३) वृन्दावन आश्रम में माताजी, गुरुप्रिया दीदी तथा और भी अनेक जन उपस्थित थे। संयम सप्ताह महाव्रत के उपलक्ष में मुंबई में माताजी के साथ जो जायेंगे उनके नाम की तालिका तैयार हो रही थी। उक्त तालिका में दीदीमाँ का नाम है या नहीं यह सूचना बाहर नहीं आयी थी। दीदीमाँ घूमतीं-घूमतीं दीदी के निकट आकर बिना किसी भूमिका के अचानक कहती हैं,"और तो कुछ नहीं! कान्ता बेन (मुंबई निवासिनी भक्त) ने मुझे निमन्त्रण किया है।" (कहना पड़ेगा और तो कुछ नहीं– यद्यपि इस गौरचन्द्रिका का तात्पर्य–और भी बहुत कुछ।)

(दीदीमाँ जिस तरह से अपनी बात को रखती हैं, वह तरीका बहुत ही रसमय है। बंगला में इस तरह अपनी बात को रखने के तरीके को गौर चन्द्रिका कहते हैं। इस शब्द का सम्बन्ध परम भगवत्, भगवन्नामामृत रसिक निताई गौर के लीला के साथ है।)

दीदी, दीदीमाँ के साथ ज़रा हँसी मसखरी करने का अवसर पाकर अपनी हँसी को रोककर कहती हैं,"ओहो! यह बात! तब तो

कान्ता बेन के निमन्त्रण के लिए ही आपको मुम्बई जाना पड़ेगा। इसके अलावा और कोई कारण तो नहीं है?'' एक और कारण आविष्कार करके दीदीमाँ कहती हैं,''इसके अलावा पाठक ने भी तो मुझे मुम्बई आने के लिए कहा है।'' दीदी अनायास प्रसंग को नहीं छोड़ती हैं, साफ-साफ पूछती हैं,''दीदीमाँ, तब तो आपके मुम्बई जाने का आग्रह केवल उन दो भक्तों की चिट्ठी पाकर, या अन्दर की और भी कुछ बात है।'' सरल स्वभाव दीदीमाँ तब भी सोच रही हैं दीदी के पकड़ में वह नहीं आयी हैं। शायद उसी सोच के वश में आकर, गम्भीर भाव से जवाब देती हैं,''हाँ, एक और बात यह है कि बहुत दिन पहले तुमलोगों के दादामहाशय एवं भोलानाथ के साथ उस अंचल में जाना हुआ था, परन्तु उस बार सब तीर्थ दर्शन नहीं हो सके थे।'' रिश्ते में नातिन होने की युक्ति से दीदी तब हास्य रस को और घनीभूत करती हुई कहती हैं-''अच्छा ठीक ही तो! जब तीर्थ दर्शन ही आपकी इच्छा है। तब तो अभी ही तैयारी की जाय। माताजी के वृन्दावन में रहते-रहते ही आप उस अंचल के तीर्थ दर्शन करके वृन्दावन लौट आइए; तदुपरान्त माताजी संयम सप्ताह के लिए मुंबई जायेंगी।'' इतनी देर बाद दीदीमाँ हँसती है, मुँह पर आँचल ढक कर उनकी लजीली मुस्कान। इस हास्यरस का शायद यह तात्पर्य है- क्या सब बात खुल कर कहना ही पड़ेगा? यथार्थ वक्तव्य तो है,''मेरे मुंबई जाने का प्रधान आकर्षण है तुमलोगों की माताजी।''

''दीदीमाँ के वात्सल्य-रस में ऐश्वर्य बोध अवलुप्त''

दीदीमाँ की जीवन की एक रोमाञ्चकर घटना। माताजी को लेकर दीदीमाँ की लीला, दीदीमाँ को लेकर माताजी की लीला! प्रस्तुत प्रसंग में दीदीमाँ द्वारा अपने वर्णन का सारांश प्रश्नोत्तर आकार

में नीचे दिया गया है।

गिरिजी (दीदीमाँ)– एक बार ढाका में शाहबाग में कालीपूजा की तैयारी हुई थी। तुमलोगों की माताजी कालीपूजा करेंगी। पहले तुमलोगों की माँ कालीमाता को सिंदुर चढ़ाकर स्तोत्र पाठ (स्तवपाठ) करती हैं। तदुपरान्त बैठ कर पूजा प्रारम्भ करती हैं। थोड़े पुष्प अर्पण करने के उपरान्त ही उसके भाव में परिवर्तन हो जाता है। इसीलिए वह भोलानाथ से कहती हैं तुम मेरे हाथ में फूल दो। फूल लेकर, फूल चढ़ाने में असमर्थ होकर भोलानाथ से कहती हैं, "तुम पूजा करो मैं बैठती हूँ।" ऐसा कहकर हँसती-हँसती काली मूर्ति के बायीं तरफ़ बैठ जाती हैं। अब भोलानाथ पूजन प्रारम्भ कर देते हैं। पूजा में बैठने से पहले भोलानाथ तुमलोगों की माताजी का यह अद्भुत भाव देख कर सभी से कह दिया था, "आप सभी अपनी अपनी आँखें बन्द करके रखें। सभी के आँख बन्द करने पर भी एक माली बाहर थोड़ी दूर था। एक माली ने आँखें बन्द नहीं की थी। तुमलोगों की माँ कहती हैं, "सुखदिया" (माली का नाम) तो देख रहा है। सभी उसको आँख बन्द करने के लिए कहते हैं, "या तो तू आँखें बन्द कर या यहाँ से चला जा।" तब वह चला जाता है। भोलानाथ के पूजा के लिए बैठते ही हम सब आँखें खोलते हैं। बाद में सुना है उस भाव के चलते उसके वस्त्रावरण खुल गये थे। पूजा होने के उपरान्त मैं पूर्णपात्र लाने बाहर आती हूँ। दूसरे कक्ष में जाते समय मानो कोई मुझसे कहता है, "माताजी की तरफ़ देखो।" इसलिए लौटकर आकर तुमलोगों की माँ की तरफ़ देखती हूँ, उसका मुखमण्डल नील वर्ण हो गया है, जिह्वा लम्बी होकर मुँह से बाहर लटक रही है। मुख की ओर देख कर मैं चली आती हूँ।

प्रश्न– "क्यों चली गयी थीं आप, डर गयी थीं क्या?
गिरिजी– "क्यों चली गयी थी अभी वह कह नहीं सकूँगी।

उक्त समय माँ का यह रूप दर्शन करके सभी भाव विह्वल हो गये। सब ठीक हो जाने के बाद मैं पूजा के कोठे में आकर बैठती हूँ।

प्रश्न– "सुना है आप उस समय माताजी के श्रीचरण कमल में पुष्प अंजलि देने गयी थी, परन्तु अंजलि दिये बिना क्यों लौट आती है?
गिरिजी– हाँ, अंजलि के समय मेरे मन में यह भाव आया था। तुमलोगों की माँ के चरण कमल में मैं अंजलि अर्पण करूँ। परन्तु फूल बेल पत्तियों को लेकर मन ही मन सोचती हूँ– अपनी बेटी को किस तरह अंजलि दूँ? इसलिए उन फूल बेल पत्तियों को माता कालीजी के चरणों में समर्पित कर अंजलि देती हूँ। तुमलोगों की माँ एवं भोलानाथ के भोजन करने के लिए बैठने पर, मेरे उद्देश्य से किसी से कह रहे थे,"माँ को (दीदीमाँ) को पूछो उन्होंने किसको अँजलि देना चाहा था।" मैं कहती हूँ,"तुमको ही अञ्जलि देने की इच्छा हुई थी, परन्तु काली माता को दे देती हूँ।"

माताजी दीदीमाँ को साक्षात् काली मूर्ति में दर्शन देती हैं। माताजी को अञ्जलि देते हुए दीदी माँ गिर पड़ती हैं। मोहिनी माया के खुले आवरण में। ऐश्वर्य बोध अवलुप्त होता है। दीदीमाँ सोचती हैं,"अपनी बेटी को किस तरह अंजलि दूँगी?"

दीदीमाँ की जीवनयात्रा के सायं बेला में माताजी सूक्ष्म में दीदीमाँ के सामने आर्विभूत (प्रकट) हुई थीं। भवसागर के खेवैया के रूप में आने वाले प्रकरण में उक्त प्रसंग की चर्चा करी जायेगी।

विश्ववासी के लिए मुक्ति चाहने वाली दीदीमाँ

सन् १९६३, फरवरी महीने की दिनांक १०। दीदीमाँ कनखल में। माताजी जोधपुर में। रात के दो बजकर तीस मिनट पर दीदीमाँ की देह त्याग की इच्छा होती है। पूरी रात वे आसन पर ही बैठी रहीं। प्रात:काल दक्ष प्रजापति घाट पर स्नानादि के सम्पन्न होने के उपरान्त दीर्घ समय पर्यन्त ध्यानस्थ थीं। माताजी उक्त समय जोधपुर से दीदीमाँ की ध्यानमूर्ति का सूक्ष्म में दर्शन करती हैं, एवं दीदीमाँ का ख्याल जान जाती हैं। ध्यान में डूबी दीदीमाँ दर्शन करती हैं, भवसागर को पार कराने वाला खेवैया एवं दीदीमाँ एक ही नैया पर। इधर जोधपुर में माताजी सूक्ष्म में देखती हैं माँ एवं दीदीमाँ एक नाव पर। दीदीमाँ उस खेवैये से कहती हैं,"मैं तो पार होकर ही हूँ। जो तट पर खड़े होकर प्रतीक्षा कर रहे हैं, उनका क्या करोगे? इनको छोड़कर तो मैं नहीं जाऊँगी।" दीदीमाँ पुन: प्रश्न करती हैं,"इनको पार करोगे तो? पार लगाओगे तो?" जवाब में खेवैया तीन बार कहते हैं,"हाँ करूँगा"।

ऊपर दी हुई घटना के चार दिन बाद, दिल्ली में दीदीमाँ की उस कनखल लीला प्रसंग में निम्नलिखित मातृवाणी स्फुरित हुई थीं: "सभी की मुक्ति नहीं होने से मुक्ति कहाँ? और भीतर-भीतर संन्यास जप। पशु पक्षी, कीट पतंग, किसी को भी मानो और जन्म मृत्यु भोग नहीं करना पड़े– गिरिजी का यह महाभाव।"

सभी की मुक्ति न होने पर अपनी व्यक्तिगत मुक्ति मुक्तानन्द के लिए व्यर्थ (तुच्छ) वह तो मोक्षदा– "इनको छोड़कर मैं नहीं जाऊँगी।" यह दृढ़ संकल्प उनके लिए ही शोभन।

महाप्रयाण

बंगाब्द १३७७ (सन् १९७०)

मुक्तिक्षेत्र हरिद्वार में श्रीमद्भागवत-पारायण चल रहा है। उस दिन श्रीकृष्ण का आर्विभाव लीला प्रसंग की चर्चा हुई थी, मध्य रात्रि में लेटी हुई अवस्था में दीदीमाँ को साँस की तकलीफ़ शुरु होती है। माताजी दीदीमाँ की छाती पर हाथ फेरती हैं। दीदीमाँ की बंद आँखें क्षण भर के लिए खुल जाती है। उनकी स्थिर दृष्टि माताजी के प्रति एकटक लगी हुई है। मानो प्रणाम के लिए दीदीमाँ दोनों हाथ उठाने की कोशिश करती हैं। इसी वक्त उनका पाँच भौतिक शरीर अनन्त शून्य में विलीन हो जाता है। सावन की भरी गंगा रात्रि की शान्त वातावरण का तप भंग करती हुई कल-कल निनाद से चली जा रही अनन्त की ओर।

२३ सावन (बंगला) प्रात: गिरिजी महाराज की पवित्र देह कनखल आश्रम लाया जाता है। उक्त दिवस सायंकाल यथाविधि स्नान, अभिषेक, आरति इत्यादि के समापन होने के उपरान्त, आश्रम के उद्यान में संन्यासी नियमानुसार उनका श्रीशरीर प्रस्तर (पत्थर) की पेटिका में बैठाकर समाधिस्थ किया जाता है।

पूज्य मुक्तानन्द गिरिजी की पुण्य स्मृति में प्राण प्रतिष्ठा के लिए माताजी के ख्याल से दीदीमाँ की दो मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती है। कनखल आश्रम में सन् १९७४, के चैत की संक्रान्ति १४/४/७४ दिनांक तथा वाराणसी आश्रम में सन् १९७४ की अक्षय तृतीया दिनांक २५/४/७४ को गिरिजी की दोनों मूर्ति भिन्न-भिन्न दोनों आश्रम कनखल (हरिद्वार) तथा वाराणसी में प्रतिष्ठित होती हैं।

उपसंहार

नामरूपधारी दीदीमाँ ब्रह्मलीन होती हैं। दुनिया के लोग अब देख नहीं पायेंगे माताजी के निकट बैठी उस शान्त स्वरूप दिव्यमूर्ति को। ध्रुवतारा की भाँति स्थिर। शुक्रतारा की भाँति उज्ज्वल। आज भी भक्तों की स्मृति पट पर झलमला रही है वह शान्त, स्निग्ध सुन्दर मूर्ति-वही मुण्डित मस्तक, उन्नत ललाट, आयत लोचन, मधुर हास, मुखमण्डल पर झलक रही कल्याणमयी करुणा।

महात्मागण के मध्य महामहिमामयी महात्मा थी दीदीमाँ। जगज्जननी की जननी। माताजी के सान्निध्य का वह निर्दिष्ट आसन आज सूना है। जो देखना जानते हैं, वह देखते हैं, आसन शून्य नहीं पूर्ण। ऐसी अन्तर्दृष्टि जिनको उपलब्ध नहीं है। उनके लिए सहारा है, स्मृति चारण, यादगार।

बंगला के मूल लेखक: स्व. श्री अनिल चन्द्र गंगोपाध्याय, कोलकाता
हिन्दी अनुवाद: ब्र० गुणीता, श्री श्री माँ आनन्दमयी कन्यापीठ, वाराणसी।

श्री श्री माँ आनन्दमयी आश्रम
भोपाल, म.प्र.

Printed by: Ratna Offsets Ltd.
B 21/42 A, Kamachha, Varanasi.
Mob. no. 9839856868